पुण्य विवेचन

लेखक

स्व० पं० रतन चन्द मुख्तार

प्रकाशिका

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद

कृति : पुण्य विवेचन
लेखक : स्व० पं० रतन चन्द्र मुख्तार
सम्पादक : डॉ० श्रेयांस कुमार जैन

अर्थ-सौजन्य : श्रीमती झमकू देवी पाटनी
धर्मपत्नी श्री मदन लाल पाटनी (सुजानगढ़ निवासी)

प्राप्ति स्थान : ऊषा मोटर्स
24, महावीर भवन, ए० टी० रोड़, गौहाटी-781001
डॉ० श्रेयांस कुमार जैन
दि० जैन कालेज, बड़ौत-250611

मुद्रण व्यवस्था : अशोक जैन, सचिव ऊर्ध्वचेता प्रतिष्ठान
बी-5/263, यमुना विहार, दिल्ली-110053

जिनकी पावन प्रेरणा से पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हुआ
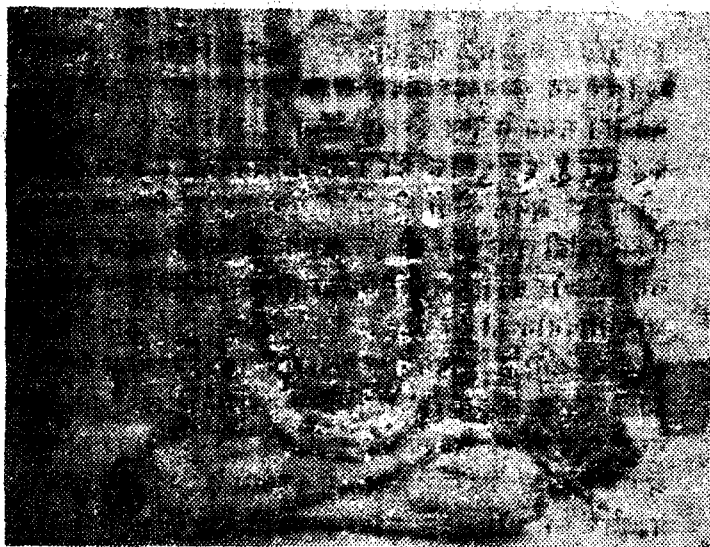
आर्षमार्ग संरक्षक, जिनवाणी प्रसारक, अभीक्षण ज्ञानोपयोगी

परमप्राज्ञ, परमतपस्वी, परमपूज्य गणधराचार्य

१०८ श्री कुन्थुसागर जी महाराज

के चरणारविन्दों में शतः शतः वंदन।

मदन लाल, विनोद कुमार,
वसंत कुमार, मक्खन लाल
(पाटनी परिवार)
सुजानगढ़ निवासी

आशीर्वाद

परमहर्ष का विषय है कि यह पुस्तक फिर से छप रही है, इस पुस्तक में लेखक ने बड़ा ही परिश्रम किया है, पुण्य का विवेचन बड़े ही सुन्दर ढंग से आगमानुसार सप्रमाण लिखा है वर्तमान समय में पुण्य की बड़ी चर्चा है, कोई कुछ, कोई कुछ कह रहा है, इस पुस्तक की परम आवश्यकता है। इस पुस्तक को पढ़कर अनेक लोगों की शंका समाधान होगी, जो सर्वथा एकान्तवादी लोग पुण्य को हेय कहते हैं उन्हें अवश्य पढ़ना चाहिए, और पढ़कर अपनी मिथ्या मान्यता को छोड़ना चाहिए जो शुभोपयोग को हेय कहते हैं, विष कहते हैं और उसको करते भी जाते हैं, आगमानुसार तो शुभोपयोग परम्परा से मोक्ष का कारण है, अवश्य ही मोक्षसिद्धि को कराने वाला है। प्रत्येक मुमुक्षु इस पुस्तक अवश्य पढ़े, इसीलिए इस पुस्तक को डॉक्टर श्रेयांस जी पुनः प्रकाशन कराने में पुरुषार्थ कर रहे हैं, पुस्तक प्रकाशक को और मुद्रण व्यवस्था करने वालों को मेरा पूरा आशीर्वाद है।

ग० आ० कुन्थुसागर

सम्पादकीय

जैनागम में दो प्रकार की आस्रव व्यवस्था है पाप और पुण्य। पापास्रव जीव को निन्द्य गतियों और योनियों में ही परिभ्रमण कराता है। पुण्यास्रव उच्च गति और मोक्ष का कारण है। जैसा जिनसेनाचार्य ने स्वयं लिखा है—

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसारा:—

श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयोगी:।

साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ट

मार्हन्त्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्रयं॥

16/272 महापुराण

सुर असुर मनुष्य और नाग इनके इन्द्र आदि के उत्तम-उत्तमभोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपमरूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इन्द्रपद जिसको पाकर पुन: संसार में जन्म न लेना पड़े—ऐसा अर्हन्त पद और अनन्त समस्त सुख देने वाला श्रेष्ठ निर्वाण पद इन सबकी प्राप्ति पुण्यकर्म से ही होती है।

पुण्य (शुभ) भाव की चारों अनुयोगों में उपादेयता बतायी गयी है। हाँ द्रव्यानुयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग की उपादेयता और शुभोपयोग की गौणता अवश्य प्रतिपादित है। श्रेण्यारोहण कर्त्ता की दृष्टि से पुण्य अनुपादेय भी होता है न कि अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयम की की अपेक्षा। श्रावक एवं प्रमत्त श्रमण को पुण्य क्रिया अवश्यभावी कहा है—

वरं वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरई इयरेहिं।

छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं॥ 25॥ मोक्षपाहुड

व्रत और तपरूप शुभ भावों से [पुण्य भावों से] स्वर्ग प्राप्त होना उत्तम है तथा अव्रत और अतप (अशुभ भाव,पापभाव) से नरक में दु:ख प्राप्त होना ठीक नहीं है। जैसे छाया और धूप में बैठने वालों में महान अन्तर है, वैसे ही व्रत (शुभ) और अव्रत (अशुभ) पालने वालों में महान् अन्तर है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी आदि ने शुभ क्रिया को श्रेष्ठ और ग्राह्य बताया किन्तु अशुभ क्रिया को त्याज्य कहा। वर्तमान के कुछ पंडितमन्य लोग पुण्य और पाप को समान कहते हैं तथा पुण्य को सोने की बेड़ी और पाप को लोहे की बेड़ी की उपमा देते हैं। उन्हें आगम की दृष्टि

समझना आवश्यक है क्योंकि मिथ्यादृष्टि अयथार्थ श्रद्धानी होता है और सम्यग्दृष्टि यथार्थ श्रद्धानी होता है। इसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्म पौद्गलिक होने की अपेक्षा यद्यपि समान हैं तथापि मोक्षमार्ग में साधकता और बाधकता की अपेक्षा तथा सुख और दुःख की अपेक्षा पुण्यकर्म तथा पापकर्म मे महान् अन्तर है। पुण्यकर्म त्यक्त (छूटता) है और पाप कर्म त्याज्य (छोड़ा जाता) है, यह मूल भेद है।

पुण्य और पाप को एक मानना आगम का अपलाप करना है क्योंकि अचार्यों ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पापों को प्रयत्नपूर्वक छोड़ने की आज्ञा दी है और अधोगति का ही कारण बताया है। जबकि पुण्य संसार वैभव के साथ मोक्ष तक की प्राप्ति कराने में समर्थ है। इस पर आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने स्वयं प्रश्न उठाकर समाधान दिया है— "ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थान प्राप्ति हेतुत्वा भ्युपगमात् तत् कथं निर्जराङ्ग स्यादिति ? नैष दोष: एकस्यानेक कार्य दर्शनादग्निवत्। यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदन भस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदय कर्मक्षय हेतुरित्यत्र को विरोध:।' अर्थात् तप को अभ्युदय का कारण मानना इष्ट हैं, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेष की प्राप्ति के हेतु रूप से स्वीकार किया गया है। इसलिए वह निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है ? यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अग्नि के समान तप एक होते भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है, तथापि उसके विक्लेदन भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं, वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय का कारण है, ऐसा मानने में कोई विरोध नही है।

आचार्यों ने पुण्यरूप कारण में उभयकार्य सामर्थ्य दर्शायी है। पुण्य आत्मा को पवित्र करने वाला है अतः सर्वथा हेय कहना आगम और व्यवहार दोनों की अपेक्षा अयुक्त है। इसी अभिप्राय को लेकर पण्डित रतनचन्द्र मुख्तार ने "पुण्य—विवेचन" नामक यह पुस्तिका सिद्धान्त-अनुसार लिखी थी, जिसे पूर्व मे अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् ने प्रकाशित की थी। मेरे अनुरोध पर श्रीमती झमकू देवी ने इसके प्रकाशन व्ययभार को सहर्ष स्वीकार किया। मात्र एक सप्ताह में श्री अशोक जैन ने इसकी मुद्रण व्यवस्था कराई। दोनों का धन्यवाद करते हुए यह पुस्तक तत्व जिज्ञासुओं के हाथों में सौंपकर स्वयं को गौरवान्वित समझ रहा हूं।

डॉ० श्रेयांस कुमार जैन

प्रकाशनार्थ अर्थ—सहयोगी

श्रीमती झमूक देवी पाटनी
(धर्मपत्नी श्री मदन लालजी पाटनी—सुजानगढ़ निवासी)

आपका जन्म सुजानगढ़ मे सन् १९३२ मे श्री स्व० सेठ शिकरीलालजी पहाड़ियाँ के यहाँ हुआ। इनका बाल्यकाल अविभाजित बगाल के रगपुर जिलान्तर्गत मुगलहार मे बीता। भारत विभाजन के बाद माता-पिता अपने परिवार को लेकर दीनाहरा सब—डिवीजन अन्तर्गत सीताईहाट जाकर बस गए जहां इनका पाणिग्रहण सुजानगढ निवासी श्री मदनलाल जी पाटनी के साथ सम्पन्न हुआ। आप बडी ही धर्मपरायण स्त्री है एवं सभी धार्मिक कार्यों मे पूर्ण अभिरुचि रखती है। इनके तीन पुत्र श्री विनोद कुमार पाटनी, श्री बसंत कुमार पाटनी, श्री मक्खन लाल पाटनी एवं एकमात्र पुत्री श्रीमती सुमन देवी छाबडा (ध० प० श्री पारसमलजी छाबड़ा, सुजानगढ़ निवासी—उज्जैन प्रवासी) एवं तीनो पुत्र बधुएं

श्रीमती शोभादेवी, श्रीमती उषा देवी, श्रीमती सीमा देवी सभी बड़े ही धर्मात्मा, आज्ञाकारी, धर्मपरायण, मुनिभक्त, आगमानुयायी एवं शान्त प्रकृति/प्रवृति के हैं। इनके सबसे बड़े पुत्र जनरल इन्सोरेन्स कंपनी की इलाहाबाद शाखा के डिवीजनल मैनेजर हैं, अन्य दोनों पुत्र व्यापार में लगे हुए हैं एवं बड़ी निष्ठा से व्यापार में संलग्न रहते हैं।

आपका ध्यान हमेशा ही आत्मकल्याण की ओर रहता है एवं आप अपनी इस चचंल लक्ष्मी का सदुपयोग सत्कार्यों में करती रहती हैं। आपकी ही सत्प्रेरणा का फल आज सवाईमाधोपुर में आचार्यकल्प १०८ श्री स्वर्गीय चन्द्र सागरजी महाराज की मकराने की छत्तरी है एवं इलाहाबाद से ६४ किलोमीटर दूर प्रभासगिरी अतिशय क्षेत्र पर १०८ श्री पदमप्रभु भगवान की वेदी का निर्माण आपने करवाया एवं यथाशक्ति आहार दान, शास्त्र दान, औषध दान में अपना पैसा लगाती रहती हैं श्री मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र, श्री गजपन्था सिद्धक्षेत्र में इन्होंने आचार्य कल्प १०८ श्री श्रेयांस सगार जी महाराज के लगातार तीन चातुर्मास कराने में पूर्ण आर्थिक सहयोग दिया—शुभ कामना है कि धर्मनिष्ठा क्षमकू देवी पाटनी स्वपरिवार धर्मकार्यों में प्रवृत्ति रखे और सतत जिनधर्म प्रभावना की निमित्त रहें।

श्री वीतरागाय नमः

पुण्य का विवेचन

मंगलाचरण

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

मैं अनेकान्त को नमस्कार करता हूं। वह अनेकान्त परमागम का बीज है, जन्मान्ध पुरुषों का हाथी के विषयमें विवाद को दूर करने वाला है तथा समस्त नयों के विरोध को मथन (नष्ट) करने वाला है। मंगल (पुण्य) के लिए उस अनेकान्त को नमस्कार किया गया है।

जिस पुण्य के लिए यहाँ पर अनेकान्त को नमस्कार किया गया है, उस पुण्य का विशेष विवेचन किया जाता है।

पुण्य की व्याख्या

पुण्य के विषय में इस समय जैनपत्रों में बहुत चर्चा चल रही है। किन्तु किसी ने भी पुण्य की व्याख्या नहीं की है। 'पुण्य' की व्याख्या किये बिना उस पर यथार्थ विचार नहीं हो सकता है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी समयसार की प्रथम गाथा में यह प्रतिज्ञा

की कि मैं समयप्राभृत कहूँगा। दूसरी गाथा में 'समय' की व्याख्या करने के पश्चात् समय के विषय में कथन प्रारम्भ किया है। इसलिये सर्वप्रथम 'पुण्य' की व्याख्या की जाती है।

श्री पूज्यपाद महान आचार्य हुए हैं जिन्होंने समाधिशतक, इष्टोपदेश ग्रन्थ की रचना की है जिनमें एकत्व अविभक्त आत्माका कथन है। इन्हीं श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में पुण्य की निम्न प्रकार व्याख्या की है—

"पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्वेद्यादि।"

[स० सि० ६।३]

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है। जैसे साता वेदनीय आदि।

'पुण्य' और 'मंगल' एकार्थ—वाची हैं। इसलिये जो मंगल के पर्यायवाची शब्द हैं वे ही पुण्य के भी पर्यायवाची शब्द हैं।

श्री वीरसेन स्वामी महान् आचार्य हुए हैं जिन्होंने धवल व जयधवल अध्यात्म ग्रन्थों की रचना की है। जिनको समझने वाले विरले ही पुरुष हैं। उन वीरसेन आचार्य ने धवल पु० १ पृ० ३१, ३२ पर निम्न प्रकार लिखा है—

"मंगलस्यैकार्थ उच्यते, मगलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मंगलपर्यायवचनानि। एकार्थप्ररूपणं किमिति चेत्, यतो मंगलार्थोऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शास्त्रेषु नेकाभिधानैः मंगलार्थः प्रयुक्तश्चिरन्तनाचार्यैः। सोऽव्यामोहेन शिष्यैः सुखेनावगम्यत इत्येकार्थ उच्यते। "यद्येकशब्देन न जानाति ततोऽन्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्यः" इति वच-

नाह्वा ।" मंगलस्य निरुक्तिरुच्यते, मलं गालयति विनाशयति घातयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मंगलम् । तन्मलं द्विविधं द्रव्यभावमलभेदात् । द्रव्यमलं द्विविधं, बाह्यमाभ्यंतरं च । तत्र स्वेद-रजोमलादि बाह्यम् । घन-कठिन-जीव-प्रदेशनिबद्ध-प्रकृति- स्थिति-अनुभाग-प्रदेश विभक्त-ज्ञाना-वरणाद्यष्टविध-कर्माभ्यन्तर द्रव्यमलम् । अज्ञानादर्शनादिपरिणामो भावमलम् ।"

अर्थात्—मङ्गल, पुण्य, पूत, पवित्र, शिव, शुभ, कल्याण भद्र और सौख्य इत्यादि मङ्गल के पर्यायवाची नाम हैं। शङ्का-मङ्गल के एकार्थवाचक अनेक शब्दों का प्रतिपादन किस लिये किया जाता है ? उत्तर—अनेक पर्यायवाची नामों के द्वारा मङ्गलरूप अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, इसलिये प्राचीन आचार्यों ने अनेक शास्त्रों में भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा मङ्गल रूप अर्थ का प्रयोग किया है।

जो मल का गालन करे, विनाश करे, दहन करे, घात करे, शोधन करे, विध्वंस करे, उसे मङ्गल कहते हैं। वह मल दो प्रकार का है। द्रव्य मल, भाव मल। ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म द्रव्य-मल हैं। अज्ञान और अदर्शन आदि (राग द्वेष मोह आदि) परिणामों को भावमल कहते हैं।

श्री यतिवृषभआचार्य ने श्री तिलोय-पण्णत्ती (१-८,९,१४) में पुण्य अपरनाम मङ्गल के पर्यायवाची नाम बतलाकर यह कहा है कि पुण्य, द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के मलों को गलाकर आत्मा को पवित्र करता है। गाथा इस प्रकार है—

पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्दखेमकल्लाणा ।
सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥८॥

गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे ।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥९॥
अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादिदव्वभावमलभेदा ।
ताइं गालेइ पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं ॥१४॥

अर्थ—पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण शुभ और सौख्य इत्यादिक सब मंगल के ही समानार्थक शब्द कहे गये हैं। (पुण्य और मङ्गल इन दोनों शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। जो मंगल का अर्थ है, वही पुण्य का अर्थ है।) ॥ ८ ॥ क्योंकि यह मलों को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध (पवित्र) करता है और विध्वंस करता है, इसलिये इसे मङ्गल अर्थात् पुण्य कहते हैं ॥ ९ ॥ अनेक भेद—युक्त ज्ञानावरणादि कर्मरूप द्रव्य—मलों और अज्ञान अदर्शन आदि भाव—मलों को यह गलाता है इसलिए यह मङ्गल अथवा पुण्य कहा गया है।

इन आर्ष वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि 'मङ्गल' और 'पुण्य' ये दोनों एकार्थवाची हैं। जो आत्मा के द्रव्य कर्म और भाव कर्म रूपी मल का नाश करके आत्मा को पवित्र करता है, उसे 'पुण्य' कहा गया है। आर्ष ग्रन्थों में 'पुण्य' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है।

पुण्य की उपर्युक्त भाषा ध्यान में रहने से पुण्य--सम्बन्धी चर्चा ठीक-ठीक सरलता से समझ में आ सकती है। अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करे ऐसा पुण्य क्या सर्वथा त्याज्य अथवा हेय है या आत्मा के पवित्र हो जाने पर यह पुण्य स्वयं छूट जाता है। 'मैं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापों का त्याग करता हूँ।' इस प्रकार प्रतिज्ञा-पूर्वक पाप का त्याग किया जाता है क्या इसी प्रकार प्रतिज्ञा-पूर्वक पुण्य का भी त्याग किया जाता है ? क्या किसी

ने ऐसी प्रतिज्ञा की है ? क्या इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने का किसी आर्ष ग्रन्थ में उपदेश है ? पाठकों के लिए यह सब विचारणीय है।

शंका—पंचास्तिकाय गाथा १३२ में तो शुभ परिणाम को पुण्य और अशुभ परिणाम को पाप कहा है और इन दोनों को बन्ध का कारण कहा है। इस प्रकार शुभ परिणाम पुण्य का लक्षण है ?

समाधान—जीव का शुभ परिणाम पुण्य है, क्योंकि पुण्य का पर्यायवाची शुभ है, ऐसा श्री यतिवृषभाचार्य व श्री वीरसेन आचार्य ने तिलोयपण्णत्ति व धवल में कहा है। जीव के शुभपरिणाम का लक्षण गाथा १३२ पंचास्तिकाय में नहीं दिया गया है। शुभ भाव का लक्षण श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने गाथा ६४ व ६५ में निम्न प्रकार कहा है—

दव्वत्थकायछप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु
बंधणमुक्खे तक्कारणरूवे वारसणुवेक्खे ॥६४
रयणत्तयस्स रूवे अज्जाकम्मो दयाइसद्धम्मे।
इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥६५

अर्थ—छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्व, नव पदार्थ, बंध, मोक्ष, बंध के कारण, बारह भावना, रत्नत्रय, आर्य कर्म, दया आदि धर्म, इत्यादिक भावों में जो वर्तन करता है, वह शुभ भाव है।

शुभ भाव से दसवें गुणस्थान तक यद्यपि कर्म-बन्ध होता है तथापि उस बन्ध से कर्म-निर्जरा अति-अधिक होती है। इसलिए शुभ भावरूप जीव पुण्य आत्मा को पवित्रता का कारण है। इसका विशेष कथन आगे प्रकरण नं० २, ६, ७, ८ में है।

२ जीव पुण्य

उपरिउक्त पुण्य दो प्रकार का है। एक जीव पुण्य, व दूसरा अजीव पुण्य। जो जीव पुण्य-भाव अर्थात् शुभ-भाव से युक्त हो वह

जीव-पुण्य है। जो पुद्गल पुण्य भाव से युक्त हो वह अजीव-पुण्य है। पुण्य का पर्यायवाची शुभ भी है। इसलिए पुण्यभाव को शुभ भाव भी कह सकते हैं।

जीव तीन प्रकार के हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। अरहन्त और सिद्ध परमात्मा हैं। इनमें से बहिरात्मा पाप-जीव हैं। अन्तरात्मा पुण्य-जीव हैं। परमात्मा पुण्य पाप से रहित हैं।

"जीविदरे कम्मचये पुण्णं पावोत्ति होदि पुण्णं तु।"

[गो० जी० गा० ६४३]

श्री पं० टोडरमल जी ने इसकी भाषा टीका में निम्न प्रकार लिखा है—

"जीव पदार्थ—सम्बन्धी प्रतिपादन विषैं सामान्यपनें गुणस्थान विषैं मिथ्यादृष्टि और सासादन एतौ पाप जीव हैं। बहुरि मिश्र है (तीसरे मिश्र गुणस्थान-वर्ती जीव) ते पुण्य-पापरूप मिश्र जीव हैं। जातैं युगपत् सम्यक्त्व अर मिथ्यात्वरूप परिणए हैं। बहुरि असंयत तो सम्यक्त्व करि संयुक्त हैं, देशसंयत सम्यक्त्व अर देशव्रत करि संयुक्त हैं, अर प्रमत्तादिक सम्यक्त्व अर सकल व्रत करि संयुक्त हैं, तातैं ये पुण्य जीव हैं।"

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १९० की संस्कृत टीका में लिखा है—

अपिशब्दाद्वा पुण्यपापरहितो जीवो भवति।

कोऽसौ ? अर्हन् सिद्धपरमेष्ठी जीवः।"

इस गाथा की भाषा टीका में श्रीमान् पण्डित कैलाशचन्द्र जी ने लिखा है—

"अपि शब्द से यह जीव जब अर्हन्त अथवा सिद्ध परमेष्ठी हो जाता है तो यह पुण्य और पाप दोनों से रहित हो जाता है। जीव पदार्थ का वर्णन करते हुए सामान्य से गुणस्थानों में से मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवर्ती जीव तो पापी हैं। मिश्रगुणस्थान वाले जीव पुण्य पापरूप हैं; क्योंकि उनके एक साथ सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिले हुए परिणाम होते हैं। तथा असंयत सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व सहित होने से, देशसंयत सम्यक्त्व और व्रत से सहित होने से और प्रमत्त संयत आदि गुणस्थान-वर्ती जीव सम्यक्त्व और महाव्रत से सहित होने से पुण्यात्मा जीव हैं।"

जीवाजीवौ पुरा प्रोक्तौ, सम्यक्त्वव्रतज्ञानवान् ।
जीवः पुण्यं तु पापं, स्यान्मिथ्यात्वादिकलंकवान् ॥
॥३।२७ (आचारसार)

अर्थ—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धारण करने वाला अन्तरात्मा पुण्यरूप है। और जो मिथ्यात्व आदि से कलंकित हैं वे पापरूप हैं।

यदि यह शंका की जाय कि अन्तरात्मा पुण्य पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों का बन्ध करता है फिर भी उपर्युक्त आर्ष ग्रन्थों में उसको पुण्य जीव क्यों कहा गया है? तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तरात्मा के कर्म-बन्ध होने पर भी संवर-पूर्वक कर्म-निर्जरा अधिक होती है। इसलिए अन्तरात्मा के द्वारा जीव पवित्र होकर परमात्मा बन जाता है। अतः उपर्युक्त आर्ष ग्रन्थों में अन्तरात्मा को पुण्य कहा जाना उचित है। क्योंकि पुण्य वह है जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होती है।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने समाधि-तन्त्र में कहा भी है—

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ।।४।।

संस्कृत टीका—"उपेयादिति । तत्र तेषु त्रिधात्मसु मध्ये उपेयात् स्वीकुर्यात् परमं परमात्मानं । कस्मात् ? मध्योपायात् मध्योऽन्तरात्मा स एवोपायस्तस्मात् तथा बहिः बहिरात्मानं मध्योपायादेव त्यजेत् ।।४।।

अर्थात्—सर्व संसारी जीव तीन प्रकार के होते हैं, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, इन तीन प्रकार की आत्मा की अवस्थाओं में अंतरात्मा के द्वारा परमात्मा अवस्था को प्राप्त करना चाहिये और बहिरात्म-अवस्था को छोड़ना चाहिये।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने समाधि-तंत्र में "अंतरात्मा द्वारा परमात्म-अवस्था को प्राप्त करना चाहिए।" इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि 'अन्तरात्मा द्वारा आत्मा पवित्र होती है। और सर्वार्थसिद्धि में 'पुण्य' के द्वारा आत्मा पवित्रहोती है' यह कहा है। इन दोनों कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तरात्मा पुण्य है। उपर्युक्त श्लोक में बहिरात्मा अर्थात् पाप को तो त्याज्य बतलाया है। इसका कारण यह है कि पुण्य के द्वारा आत्मा पवित्र होती है अर्थात् परमात्मा पद प्राप्त होता है, उसको त्याज्य कैसे कहा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति पुण्य को हेय जान ग्रहण न करे तो उसकी आत्मा पवित्र नहीं हो सकती अर्थात् वह परमात्मा पद प्राप्त नहीं कर सकता।

श्री पं० दौलतराम जी ने भी उपर्युक्त श्लोक के अनुसार बहिरात्मा को हेय बतलाया है और अन्तरात्मा को उपादेय बतलाया है।

बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजे।
परमातम को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजे।।

छहढाला

अन्तरात्मा अथवा पुण्य को उपादेय बताने का कारण यह है कि इसके द्वारा आत्मा पवित्र होती है और परमात्मा पद प्राप्त होता है। किन्तु परमात्म-पद प्राप्त हो जाने पर अन्तरात्मा अर्थात् पुण्य का स्वयमेव अभाव हो जाता है, क्योंकि परमात्मा पुण्य-पाप (अन्तरात्मा, बहिरात्मा) से रहित है।

ऐसा एक भी जीव नहीं जिसने पुण्य अर्थात् अन्तरात्मा के बिना परमात्मा-पद प्राप्त किया हो, क्योंकि कारण के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। आर्ष ग्रन्थों में बहिरात्मा को पाप जीव कहा गया है। निरतिशय बहिरात्मा यद्यपि पाप जीव है तथापि भ्रम से उसको पुण्य जीव मानकर सर्वथा पुण्य का निषेध करना उचित नहीं है।

पुण्यभाव अर्थात् शुभभाव मोक्ष का भी कारण है।

श्री वीरसेन आचार्य तथा श्री यतिवृषभाचार्य ने मंगल के पर्यायवाची नामों का उल्लेख करते हुए पुण्य और शुभ को पर्यायवाची कहा है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने शुभ भाव का लक्षण रयणसार में निम्न प्रकार कहा है—

> दव्वत्थकायछप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु ।
> बंधणमुक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे ॥६४
> रयणत्तयस्स रूवे अज्जाकम्मो दयाइसद्धम्मे ।
> इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥६५

अर्थ—छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, साततत्त्व, नव पदार्थ, बंध, मोक्ष, बंध के कारण, मोक्ष के कारण, बारहभावना, रत्नत्रय, आर्य कर्म, दया आदि धर्म, इत्यादिक भावों में जो वर्तन करता है वह शुभ भाव होता है।

श्री प्रवचनसार गाथा २३० की टीका में शुभभाव के कुछ पर्यायवाची नाम दिये हैं जो इस प्रकार हैं—

अपहृतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः ।

अर्थ—अपहृत-संयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग ये एकार्थ-वाची शब्द हैं।

उपर्युक्त लक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुभ भाव सम्यग्दृष्टि के संभव हैं, मिथ्यादृष्टि के शुभ भाव संभव नहीं हैं।

पुण्य भाव से अर्थात् शुभभाव से जहाँ पुण्य कर्म का बन्ध होता है वहाँ संवर और निर्जरा भी होती है। यही कारण है कि अन्त-रात्मा अर्थात् जीव पुण्य को परमात्मा का कारण बतलाया गया है जिसका उल्लेख सप्रमाण पीछे किया जा चुका है। श्री वीरसेन आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में शुभ भाव से संवर और निर्जरा का उल्लेख किया है।

"सुह-सुद्ध-परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खया-णुववत्तीदो।" (जयधवल पु० १ पृ० ६)

अर्थ—यदि शुभ व शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी इसी बात को प्रवचनसार में कहा है—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ।।४५

अर्थ—यह प्रशस्त—भूत चर्या अर्थात् पुण्य शुभ भाव मुनियों के होते हैं और गृहस्थों के तो मुख्य रूप से होते हैं, और उसी से परम सौख्य को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने भी इस गाथा की टीका में निम्न प्रकार कहा है—

"गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्म-प्रकाशन-स्याभावात्कषाय-सद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिक-संपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ।"

अर्थात्—शुभोपयोग गृहस्थ के तो, सर्वविरति के अभाव से शुद्धात्मप्रकाशन का अभाव होने से, कषाय के सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी शुभभाव मुख्य है। क्योंकि गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है, जिस प्रकार ईन्धन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है। इसलिये वह शुभोपयोग क्रमशः परम-निर्वाण के सौख्य का कारण होता है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य पुनः प्रवचनसार गाथा २५६ की टीकामें शुभोपयोग अर्थात् पुण्य—भाव को मोक्ष का कारण बतलाते हैं।

"शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः ।"

अर्थ—सर्वज्ञ-कथित वस्तुओं में उपर्युक्त शुभोपयोग का फल पुण्य-संचय-पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है।

समयसार गाथा १४५ की टीका में भी श्रीअमृतचन्द-आचार्य ने इसी प्रकार कहा है—

"शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीव-पुद्गलमयत्वादनेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमय-बन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म ।"

यहाँ पर जीव के शुभ भाव को मोक्षमार्ग कहा गया है।

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिरायेण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ।।१५३।।
(भावपाहुड)

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि जो भव्य जीव उत्तम भक्ति और अनुराग से जिनेन्द्र भगवान के चरणकमलों को नमस्कार करते हैं, वे उस भक्ति-मयी उत्तम शुभभावरूप हथियार के द्वारा संसार रूपी बेल को जड़ से खोद देते हैं अर्थात् संसार का जड़ मूल से नाश कर देते हैं।

तं देवाधिदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥ ६

(श्रीकुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार पृ. ९०)

अर्थात्—जो देवाधिदेव, यतिवर—वृषभ, तीन लोक के गुरु अर्थात्—श्री जिनेन्द्र भगवान को जो मनुष्य आराधना करता है वह मनुष्य आराधनारूप शुभ-भावसे अक्षय अनंत सुख अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

अरहंतणमोकारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ७-५ ॥

[मू.चा.]

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने बतलाया है कि जो भक्त भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही नमस्कार रूप शुभ भाव से सम्पूर्ण दुखों से मुक्त होता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

भत्तीए ज़िणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं,
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥

७-८१॥ [मू. चा.]

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा के पूर्वार्ध में बतलाया है जिनेश्वर की भक्ति रूप शुभ भाव से संचित कर्म का नाश होता है।

जम्हा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य।
तम्हा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीणसंसारा॥
॥७-८०॥ [मू. चा.]

इस गाथा में श्रीकुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं—"विनय रूप शुभ भाव से आठ प्रकार के कर्मों का नाश होकर चतुर्गति संसार से आत्मा मुक्त होता है।

विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाण ७-१०५

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा में बतलाया है कि विनय रूप शुभभाव का फल सर्व कल्याण अर्थात मोक्ष है।

विणओ मोक्खद्दारो विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सव्वसंघो य॥
७-१०६॥ [मू. चा.]

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने विनय रूप शुभभाव को मोक्ष का द्वार बतलाया है।

तम्हा सव्वपयत्तो विणयत्तं मा कदाइ छंडेज्जो।
अप्पसुदोवि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण।७-१८

श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं—कभी भी विनय का त्याग नहीं करो, पूर्ण प्रयत्न से विनय का पालन करो, क्योंकि अल्प ज्ञानी भी विनय रूप शुभ भाव से कर्मों का क्षय करता है।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने तथा श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने प्रवचनसार अष्टपाहुड व मूलाचार आदि ग्रन्थों में शुभोपयोग से तथा भक्ति—रूप शुभोपयोग से व विनय रूप शुभोपयोग से मोक्ष की प्राप्ति बतलाई है। जिससे परमात्म-पद प्राप्त

होता हो ऐसा शुभोपयोग रूप पुण्य सर्वथा हेय नहीं हो सकता, वह तो उपादेय है, इसीलिये श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इसको पालन करने का उपदेश दिया है।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥

[भाव पाहुड]

भाव तीन प्रकार का जानना चाहिये, शुभ, अशुभ और शुद्ध। आर्त ध्यान, रौद्रध्यान अशुभ भाव हैं, धर्म-ध्यान शुभ भाव है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

जिस धर्म ध्यान को श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थसूत्र में 'परे मोक्षहेतू' सूत्र द्वारा, मोक्ष का कारण कहा है, उस धर्मध्यान को श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने उपर्युक्त गाथा में शुभोपयोग कहा है। अर्थात् शुभोपयोग मोक्ष का कारण है ऐसा श्री कुन्दकुन्द आचार्य का कहना है।

भाव पाहुड गाथा ७६ में जिस धर्मध्यान को शुभोपयोग कहा है उसी धर्म ध्यानसे-मोहनीय कर्म का क्षय होता है। श्रीवीरसेन आचार्य ने कहा भी है—

"मोहनीयविणासो पुण धम्मज्झाणफलं, सुहुमसांपरायचरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो।"

[धवल पु. १३पृ. ८१]

अर्थ—मोहनीय कर्म का विनाश करना धर्मध्यान (शुभ भाव, पुण्य भाव) का फल है, क्योंकि सूक्ष्म-साम्पराय दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म का विनाश देखा जाता है।

श्री वीरसेन आचार्य ने जिन–पूजा आदि शुभ भावों से कर्म—निर्जरा का कथन किया है और कर्मोंकी निर्जरा मोक्ष का कारण है।

"जिणपूजा-वंदण-णामंसणेहि य बहुकम्मपदेस-णिज्जरुवलंभादो ।"

(धवल पु. १० पृ. २८९)

अर्थ—जिनपूजा, वंदना और नमस्कार आदि शुभभावों से भी बहुत कर्मप्रदेशों की निर्जरा पाई जाती है।

निर्जरा मोक्ष का साधन है। इसलिये जिन पूजा आदि शुभ भाव मोक्ष के कारण हैं। ऐसा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी रयण-सार में कहा है—

पूयाफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥१४॥

अर्थात्—यदि कोई शुद्ध मन अर्थात् इन्द्रिय सुख की अभिलाषा से रहित जिनपूजा करता है तो उस पूजा रूप शुभभाव का फल तीन लोक में देवों से पूजित अरहंत पद है और दान रूप शुभ भाव का फल तीनलोक का सार सुख अर्थात् मोक्ष का सुख मिलता है।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने भी स्तुतिविद्या में, जिन—भक्ति रूप शुभ भाव से संसार का नाश होता है ऐसा कहा है—

जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः पदे ।
भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा ।११५

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान का स्तवन रूप शुभभाव संसार रूपी अटवी को नष्ट करने के लिये अग्नि के समान है।

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि अटवी को नष्ट करती है उसी प्रकार जिनेन्द्र का स्तवन रूप शुभ भाव भी संसार के भ्रमण को नष्ट कर-देता है और मोक्ष को प्राप्त करा देता है। जिनेन्द्र का स्मरण दुख-रूप समुद्र से पार होने के लिये नौका के समान है।

अर्थात् जिनेन्द्र के स्मरण मात्र से यह जीव संसार के दुखों से छूट जाता है। जिनेन्द्र के चरणकमल भक्तपुरुषों के लिये उत्कृष्ट खजाने के समान हैं। जिनेन्द्र की श्रेष्ठ प्रतिमा सब कार्यों की सिद्धि करनेवाली है।

गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना तं ये च्युतं स्वगते।
यन्नत्यैति सुशर्म पूर्णमधिकां शान्ति व्रजित्वाध्वना
यद्भक्त्या शमिताकृशाघयमरुज तिष्ठेज्जनः स्वालये।
ये सद्भोग कदायतिव यजते ते मे जिना सुश्रिये।११६

इस श्लोक में श्री समन्तभद्र आचार्य ने यह बतलाया है कि जिनेन्द्र को नमस्कार करने मात्र से पूर्ण-अनंत सुख प्राप्त हो जाता है और भक्ति से यह जीव अधिक शांति को पाकर रत्नत्रय रूप मार्गके द्वारा स्वालय अर्थात् मोक्ष में जाकर निवास करता है।

इन दोनों श्लोकों में श्री समन्तभद्र आचार्य ने भक्ति रूप शुभोपयोग का फल मोक्ष प्राप्ति बतलाया है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवत तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

[समाधितंत्र]

श्री पूज्यपाद आचार्य ने इस श्लोक में कहा है—अपने से भिन्न अरहंत परमात्मा की उपासना आराधना करके उन्हीं के समान परमात्मा हो जाता है। जैसे दीपक से भिन्न अस्तित्व रखने वाली बत्ती भी दीपक की आराधना करके (उसका सामीप्य प्राप्त करके) दीपक-स्वरूप हो जाती है।

सिद्धज्योतिरतीव निर्मलज्ञानैकमूर्ति—स्फुरद्—
वार्तिर्दीपमिवोपसेव्य लभते योगी स्थिरं तत्पदम्।

॥८।१२॥ [पद्म-नन्दि पंचविंशति]

अर्थ—जिस प्रकार बत्ती दीपक की उपासना करके उसके पद को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् दीपक स्वरूप परिणम जाती है, उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल ज्ञान-स्वरूप सिद्ध-ज्योति की आराधना करके योगी भी स्वयं सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है।

पवित्रं यन्निरातंक सिद्धानां पदमव्ययम् ।
दुष्प्राप्यं विबुधामर्थ्यं प्राप्यते तज्जिनार्चकैः ॥
॥१२।३९॥ [अमितगति श्रावकाचार]

अर्थात्—जिनदेव के पूजक पुरुष सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं।

एकाऽपि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिजनम् ॥
॥१५५॥ [उपासकाध्ययन]

श्री पं. कैलाशचंद जी इसी उपासकाध्ययन ग्रंथ में इसका अर्थ लिखते हैं—

"अकेली एक जिनभक्ति ही ज्ञानी के दुर्गति का निवारण करने में, पुण्य का संचयन करने में और मुक्ति रूप लक्ष्मी को देने में समर्थ है।

एकाऽपि शक्ता जिनदेवभक्तिर्या दुर्गतिर्वारयितुं हि जीवान्
आसीद्धि तत्सौख्यपरं परार्थपुण्यं नवं पूरयितुं समर्था।
॥२२।३८॥ (वरांगचरित)

इस श्लोक में भी यह कहा गया है कि जिनदेव की भक्ति से उत्कृष्ट सुख अर्थात् मोक्षसुख प्राप्त होता है।

सर्वागमावगमतः खलु तत्त्वबोधो,
मोक्षाय वृत्तमपि संप्रति दुर्घटं नः।
आकृष्यात्तथा कृतनुतस्त्वयि भक्तिरेव
देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम्
॥२१।२६॥ (प० पं०)

अर्थ—हे देव ! मुक्ति का कारणीभूत जो तत्त्वज्ञान है वह ज्ञान निश्चयतः समस्त आगम के जान लेने पर प्राप्त होता है। सो वह जड़बुद्धि होने से हमारे लिये दुर्लभ है। इसी प्रकार उस मोक्षका कारणीभूत जो चरित्र है वह भी शरीर की दुर्बलता से इस समय हमें नहीं प्राप्त हो सकता है। इस कारण आप में जो मेरी भक्ति रूप शुभ परिणाम है, वही क्रमशः मुझ को मुक्ति का कारण है।

चारित्रं यदभाणि केवलदृशा देव त्वया मुक्तये
पुंसा तत्खलु मादृशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम्।
भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः
संसारार्णवतारणे जिन ततः सैवास्तु पोतो मम ॥

॥९'३०॥ (प० पं०)

अर्थ—हे जिनदेव ! आपने जो मुक्ति के लिये चारित्र बतलाया है, उसे निश्चय से मुझ जैसा पुरुष इस विषम पंचम काल में धारण नहीं कर सकता है। इसलिये पूर्वोपार्जित महान् पुण्य से जो मेरी आप में दृढ भक्ति हुई है वही मुझे इस संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिये जहाज के समान है। जिस प्रकार जहाज से समुद्र पार किया जाता है, उसी प्रकार यह जीव जिनेन्द्र-भक्ति रूप शुभ भाव से संसार से पार होकर मोक्ष पहुँच जाता है।

संवेगजणिदकरणा णिस्सल्ला मंदरोव्व णिक्कंपा।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्य भवं णत्थि संसारे ॥

॥७४५॥ (मूलाराधना)

अर्थ—संसारभय से उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व—माया—निदान से से रहित, मेरु पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिन-भक्ति जिस के अंतः-करण में हैं उस पुरुष को संसार में पुनः भव धारण नहीं करने पड़ेंगे अर्थात् उस का संसार नष्ट होकर मुक्ति लाभ होता है।

तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाधूसु ।
भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिव्वा ॥७४७॥
विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स ७४८

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी, उनकी प्रतिमा, आगम, आचार्य, सर्व-साधु, इनमें की हुई तीव्र भक्ति संसार का नाश करने में समर्थ होती है, जो भक्तिमान् है उस को इष्ट पदार्थ अर्थात् मोक्ष मिलता है और जो सिद्धादि की भक्ति नहीं करता उस को मुक्ति बीज अर्थात् रत्नत्रय प्राप्त नहीं होता।

"चेदियभत्ता य चैत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ताः। यथा शत्रूणां मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद् द्वेषो रागश्च जायते। यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तया प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्योपकारस्य वा अनुस्मरणे निमित्तताऽस्ति तद्वज्जिन-सिद्धगुणाः अनन्तज्ञानदर्शन-सम्यक्त्व—वीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न संति, तथापि तद्गुणानुस्मरणं संपादयन्ति, सादृश्यात्तच्च गुणानुस्मरणं अनुरागात्मकं ज्ञानदर्शने सन्नि-धापयति। ते च संवरनिर्जरे महत्यौ संपादयतः। तस्माच्चैत्यभक्तिमुपयोगिनीं कुरुत।"

(मूलाराधना गाथा ३०० टीका)

अर्थ—हे मुनिगण ! आप अरहन्त और सिद्ध की अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओं की भक्ति करो। जैसे शत्रुओं की अथवा मित्रों की फोटो दीख पड़ने पर द्वेष और प्रेम उत्पन्न होता है, यद्यपि उस

फोटो ने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नहीं किया है। तथापि वह शत्रुकृत—अपकार और मित्रकृत—उपकार का स्मरण होने में कारण है। वैसे ही जिनेश्वर और सिद्धों के अनन्त ज्ञान अनन्तदर्शन सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अरहंत प्रतिमा में और सिद्ध प्रतिमा में नहीं हैं तथापि उन गुणों का स्मरण होने में वे प्रतिमा कारण होती हैं, क्योंकि अरहंत और सिद्धों का उन प्रतिमाओं में सादृश्य है। यह गुणस्मरणअनुराग स्वरूप होने से ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है, और नवीन कर्मोंका अपरिमित संवर और पूर्व—बंधे हुए कर्मों की महानिर्जरा होती है। इसलिये शुद्धात्म—स्वरूप की प्राप्ति होने में सहायक ऐसी चैत्यभक्ति हमेशा करो।

कर्म भक्त्या जिनेन्द्राणां क्षयं भरत गच्छति ।
क्षीणकर्मा पदं याति यस्मिन्ननुपमं सुखम् ॥

॥३२।१८३॥ पद्मपुराण,

अर्थ—हे भरत ! जिनेन्द्र देव की भक्ति रूप शुभभाव से कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। और जिस के कर्म क्षीण हो जाते हैं, वह अनुपम (अतीन्द्रिय) सुख से सम्पन्न परम-पद अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

"जिनबिंबानि भव्यजनभक्त्यनुसारेण गीर्वाण-निर्वाणपद-प्रदायीनि गरुडमुद्रया यथा गरलापहरणं तथा चैत्यलोकनमात्रेणैव दुरितापहरणं भवत्यकृत्रचैत्यस्यापि वन्दना कार्या" ॥

(चारित्रसार पृ० १५०)

अर्थ—जिनबिंब भव्य लोगों की [illegible] के अनुसार स्वर्ग और मोक्ष पद देते हैं। जिस प्रकार ग[illegible] विष दूर हो जाता है, उसी प्रकार जिनबिंब के दर्शन [illegible] पापों का नाश हो जाता है।

इसलिये जिनबिंब की वन्दना करनी चाहिये और जिनबिंब के आश्रय होने से चैत्यालय की भी वन्दना करनी चाहिये।

प्रशस्ताध्यवसायेन संचितं कर्म नाश्यते।
काष्ठं काष्ठांतकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम् ॥

॥८।५॥ अमितगति श्रावकाचार

अर्थ—जैसे आज्वल्यमान आग से काठ का नाश होता है। तैसें ही शुभ परिणाम अर्थात् पुण्य रूप जीव परिणाम से संचित कर्म नाश को प्राप्त होता है।

आप्त-मीमांसा कारिका ९५ की टीका में अष्टशती और अष्ट-सहस्री के आधार पर इस प्रकार लिखा है "विशुद्ध तो मंदकषाय रूप परिणाम कूं कहिये है। बहुरि संक्लेश तीव्र कषाय रूप परिणाम कूं कहिए है। तहां विशुद्धि का कारण, विशुद्धि का कार्य, विशुद्धि का स्वभाव ये तो विशुद्धि के अंग हैं, बहुरि आर्त्त रौद्र ध्यान का अभाव सो विशुद्धि का कारण है। बहुरि सम्यग्दर्शनादिक विशुद्धि के कार्य्य हैं। बहुरि धर्म्म, शुक्ल ध्यान के परिणाम हैं, ते विशुद्धि के स्वभाव हैं। तिस विशुद्धि के होते ही आत्मा आप विर्षे तिष्ठे है।"

इन तीस आर्ष ग्रन्थों के प्रमाणों से यह सिद्ध है कि शुभोपयोग, शुभ भाव, विशुद्ध भाव या पुण्यभाव, इन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन से अधिक प्रमाण भी दिये जा सकते थे, किन्तु कलेवर बढ़ जाने के भय से नहीं दिये गये। जिन को आर्ष-ग्रन्थों पर श्रद्धा है उन के लिये उपर्युक्त तीस प्रमाण भी पर्याप्त है।

अजीव पुण्य (पौद्गलिक पुण्यकर्म) मोक्षमार्ग में सहकारीकारण है।

पुण्य की परिभाषा निम्न प्रकार है—

"पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्वेद्यादि।"

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र

होता है, वह पुण्य है, जैसे सातावेदनीय आदि।

तत्त्वार्थसूत्र छठा अध्याय, सूत्र तीन में पाप व पुण्यकर्म के आस्रव का कथन है। इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में श्री पूज्यपाद महानाचार्य ने सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मों के द्वारा आत्मा पवित्र होता है, ऐसा उपर्युक्त वाक्य में स्पष्ट रूपसे कथन किया है। इस पर शंका स्वाभाविक है कि पुद्गल कर्म तो बंध-रूप है। वह आत्मा की पवित्रता का कैसे कारण हो सकता है? किन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि पुण्य उदय के विना मोक्षमार्ग के योग्य (उत्तम संहनन, उच्चगोत्र आदि) सामग्री नहीं मिल सकती। इसलिये आर्ष ग्रन्थों में पुण्य कर्म को मोक्ष प्राप्ति में सहकारी कारण बतलाया है।

"मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशय-चारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात्।"

(अष्टसहस्री पृ० २५७)

अर्थ—परमपुण्य के अतिशय से तथा चरित्र रूप पुरुषार्थ से इन दोनों से मोक्ष को प्राप्ति होती है।

यहाँ पर श्री विद्यानन्द महान् तार्किक आचार्य ने यह बतलाया है कि मोक्ष मात्र-रत्नत्रय से ही नहीं प्राप्त होता किन्तु रत्नत्रय रूपी पुरुषार्थ को परम पुण्य कर्मोदय की सहकारिता की भी आवश्यकता है। इस प्रकार पुण्य कर्म भी मोक्ष-प्राप्ति में अत्यन्त उपयोगी है। इसी बात को—

श्री कुन्दकुन्द आचार्य कृत पंचास्तिकाय गाथा ८५ की टीका में भी कहा है—

"यथा रागादि-दोष-रहितः शुद्धात्मानुभूति-सहितो निश्चय–धर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदान–रहित–परिणामोपार्जित–तीर्थंकर—प्रकृ-

त्युत्तमसंहननादि—विशिष्टपुण्यरूपकर्मापि सहकारी कारणं भवति, तथा यद्यपि जीवपुद्‌गलानां गतिपरिणते: स्वकीयोपादानकारणमस्ति तथापि धर्मास्तिकायोऽपि सहकारी कारणं भवति ।"

अर्थ—जिस प्रकार रागादि दोष-रहित शुद्धात्मानुभूति रूप निश्चयधर्म भव्यों को सिद्धगति के लिये यद्यपि उपादान कारण है तथापि निदान-रहित परिणामों से उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम संहनन आदि विशिष्ट पुण्य कर्म भी सिद्ध गति के लिये सहकारी कारण हैं, (यदि विशिष्ट पुण्य कर्म की सहकारिता न हो तो भव्य जीव सिद्धगति को प्राप्त नहीं हो सकते) उसी प्रकार गतिपरिणत जीव पुद्‌गल, अपनी अपनी गति के लिये, यद्यपि उपादान कारण हैं तथापि उस गति में धर्म द्रव्य सहकारी कारण होता है अर्थात् धर्मद्रव्यके विना जीव और पुद्‌गलों की गति नहीं हो सकती, जैसे ऊर्ध्वगमन-स्वभावी सिद्ध जीव भी लोक के अन्त तक ही गमन करते हैं, क्योंकि उस के आगे धर्म द्रव्य का अभाव है ।

उत्तम संहनन आदि विशिष्ट पुण्य कर्मोदय के विना आज तक कोई भी जीव मोक्ष नहीं गया और न जा सकता है । इसलिये मोक्ष के लिये पुण्य कर्म सहकारी कारण है ।

मूलाचार प्रदीप पृ० २०० पर भी कहा है—

"पुण्य–प्रकृतयस्तीर्थपदादि–सुख–खानय: ।"

अर्थात्—ये पुण्य कर्म प्रकृतियाँ तीर्थंकर आदि पदों के सुख देने वाली हैं ।

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसारा:
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो गो: ।

साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठ—
आर्हन्त्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यं ॥
॥१६।२७२ [महापुराण]

अर्थ—सुर, असुर, मनुष्य और नाग इन के इन्द्र आदि के उत्तम उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसको पाकर पुनः संसार में जन्म नहीं लेना पड़े, ऐसा अरहंत पद, और अनन्त समस्त सुख देनेवाला श्रेष्ठ निर्वाण पद इन सब की प्राप्ति पुण्य कर्म से ही होती है।

पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दिव्यश्रियं
पुण्यात्तीर्थंकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीञ्चाश्नुते।
पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं
तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात्
॥३०।१२९॥ (म. पु.)

अर्थ—पुण्य कर्म से सब को विजय करनेवाली चक्रवर्ती की लक्ष्मी प्राप्त होती है, इन्द्र की दिव्य-लक्ष्मी भी पुण्य कर्म से मिलती है, पुण्य कर्म से ही तीर्थंकर की लक्ष्मी प्राप्त होती है, और परम कल्याण रूप मोक्ष-लक्ष्मी भी पुण्य कर्म से ही मिलती है। इस प्रकार यह जीव पुण्य कर्म से ही चारों प्रकार की लक्ष्मी का पात्र होता है। इसलिये हे सुधी! तुम भी जिनेन्द्र भगवान् के पवित्र आगम के अनुसार पुण्य का उपार्जन करो।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी प्रवचनसार गाथा ४५ में "पुण्य-फला अरहंता" शब्दों द्वारा यह कहा है कि अरहंत पद पुण्य कर्म का फल है।

नैकाक्षैर्विकलाक्षपंचकरणासंज्ञग्रजैर्जातु या,
लब्धा बोधिरगण्यपुण्यवशतः संपूर्णपर्याप्तिभिः।

भव्यैःसंज्ञिभिराप्तलब्धिविधिभिःकैश्चित्कदाचित्क्वचित्
प्राप्या सा रमतां मदीयहृदये स्वर्गापवर्गप्रदा
॥१०।४३॥ (आचारसार)

अर्थात्—रत्नत्रय की प्राप्ति को बोधि कहते हैं। यह बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति एकेन्द्रिय, विकलत्रय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को कभी प्राप्त नहीं होती है। पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय भव्य जीव को लब्धि की विधि प्राप्त हो जाने पर भी यह बोधि किसी को कभी भी किसी क्षेत्र में महान् पुण्य कर्म के वश से प्राप्त होती है। स्वर्ग व मोक्ष को देनेवाली वह बोधि (रत्नत्रय) प्राप्त होने पर मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।

"उक्तैरेकादशोपासकैर्वक्ष्यमाण—दशधर्माधारैश्च मनुष्यगतौ केवलज्ञानोपलक्षितजीवद्रव्यसहकारिकारणसंबंध-प्रारंभस्थानानंतानुपमप्रभावस्याचिन्त्यविशेषविभूतिकारणस्य त्रैलोक्यविजयकरस्य तीर्थंकरनामगोत्रकर्मणः कारणानि षोडशभावना भावयितव्या इति।"

(चारित्रसार पृ. ५०)

अर्थ—इस संसार में तीर्थंकर नाम कर्म और गोत्रकर्म मनुष्यगति में उत्पन्न हुए जीवों को केवलज्ञान से उपलक्षित करने में सहकारी कारण है। तीर्थंकर कर्म के उदय का प्रभाव अनन्त और उपमा रहित है। वह स्वयं जिसका चिंतवन भी नहीं किया जा सकता, ऐसी विशेष विभूति का कारण है और तीनों लोकोंका विजय करनेवाला है। इसलिये जिन ग्यारह प्रकार के श्रावकों का वर्णन किया गया है उनको आगे कहे जाने वाले उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों को धारण कर उस तीर्थंकर नाम कर्म की कारण-भूत सोलह भावनाओं का चिंतवन करना चाहिये।

उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में अन्य अनेकों आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण हैं जिनको विद्वन्मण्डल भले प्रकार जानता है। उन सबमें यह विषय विशद रूप से स्पष्ट किया गया है कि पुण्य कर्म की सहकारिता के विना कोई भी जीव मोक्ष नहीं जा सकता। नीच गोत्र रूप पाप कर्मोदय में संयम धारण नहीं हो सकता है। उच्च गोत्र वाले के ही संयम होता है। और संयम के विना मोक्ष मार्ग नहीं होता।

(५) क्या पुण्य भी पाप के समान सर्वथा हेय है ?

समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्म-प्रकाश, अष्ट-पाहुड आदि ग्रन्थों के आधार पर यद्यपि यह कहा जा सकता है कि पुण्य व पाप समान हैं, हेय हैं, त्याज्य हैं, तथापि यह विचारणीय है कि जीवपुण्य व जीव-पाप तथा अजीवपुण्य व अजीव-पाप क्या सर्वथा समान हैं, या किसी अपेक्षा से उनमें विशेषता भी है अथवा पुण्य सर्वथा हेय है या किसी अपेक्षा से उपादेय भी है ?

प्रथम चार प्रकरणों के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव-पुण्य और अजीव-पुण्य मोक्षमार्ग में उपयोगी होने के कारण उपादेय भी हैं फिर भी इस प्रकरण में इस पर विशेष विचार किया जाता है, क्योंकि वर्तमान में यह प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

बहिरात्मा [जीव पाप] और अन्तरात्मा जीवपुण्य दोनों संसारी हैं, क्योंकि—

"आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः
।रा. वा. २।१०।१॥"

अपने किये हुए कर्मों से स्वयं पर्यायान्तर को प्राप्त होना संसार है। इसलिये संसारी जीव की अपेक्षा से बहिरात्मा [जीवपाप] और अन्तरात्मा [जीव-पुण्य] दोनों समान हैं अथवा बहिरात्मा [जीव पाप] और अन्तरात्मा [जीव-पुण्य] दोनों पर-समय हैं, इसलिये भी समान हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णये जिणिदेहिं ।
परमप्पा सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥

॥१४८॥ (रयणसार)

अर्थात्—बहिरात्मा और अन्तरात्मा परसमय है और परमात्मा स्वसमय है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

इसलिये अन्तरात्मा (जीव पुण्य) को हेय कहा गया है।

श्री परमात्मप्रकाश गाथा १४ की टीका में कहा भी है—

'वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकशुद्धात्मानुभूतिलक्षण-परमसमाधिस्थितः सन् पण्डितोऽन्तरात्मा विवेकी स एव भवति। इति अन्तरात्मा हेय-रूपो, योऽसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥१४

अर्थात्—वीतराग निर्विकल्प सहजानन्द एक शुद्ध आत्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका, ऐसी निर्विकल्प समाधि में जो मुनि स्थित है, वह ही पंडित है, अंतरात्मा है अथवा विवेकी है। इस प्रकार अंतरात्मा हेय है और परमात्मा साक्षात् उपादेय है।

इस प्रकार निर्विकल्प समाधि में स्थित अन्तरात्मा (पुण्यजीव) को हेय बतलाया गया है। यदि कोई इस उपदेश को एकान्त से ग्रहण करले और पुण्य-जीव अर्थात् अन्तरात्मा को हेय जान त्याग करदे तो उसका परिणाम यह होगा कि वह स्वयं तो बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि अथवा पापात्मा हो जायगा और पुण्य को हेय बतलाकर दूसरों को भी मिथ्यादृष्टि बना देगा।

स्याद्वादी इस उपदेश को अनेकान्त दृष्टि से ग्रहण करके अन्तरात्मा अर्थात् पुण्य जीव को परमात्मा की अपेक्षा हेय मानते हुए भी बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यात्व अथवा पाप की अपेक्षा परमोपादेय

मानता है। उसको प्राप्त करने अथवा उसमें स्थित रहने का निरंतर वह प्रयत्न करता है। क्योंकि अन्तरात्मा (पुण्य) परमात्मा होने का साधन है।

जितना मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में अन्तर है उतना ही पाप और पुण्य में अन्तर है। पुण्य और पाप के लक्षण में भेद है इसलिए भी पुण्य और पाप में अन्तर है। जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है। जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है।

(सर्वार्थसिद्धि ६।३)

शंका—सम्यक्दृष्टि नारकी पापी है और मिथ्यादृष्टि देव पुण्यात्मा है। अतः सम्यग्दृष्टि को पुण्यजीव और मिथ्यादृष्टि को पाप-जीव कहना उचित नहीं है।

समाधान—सम्यग्दृष्टि नरक के दुख भोगता हुआ भी पुण्यात्मा है, क्योंकि उसको वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है और मिथ्यादृष्टि स्वर्ग के सुख भोगता हुआ भी पापात्मा है। क्योंकि उसको वस्तु-स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नहीं है।

इसी बात को परमात्मप्रकाश गाथा २।५८ की टीका में कहा है—

"सम्यक्त्वरहिता जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते। सम्यक्त्वसहिताः पुनः पूर्वभवान्तरोपार्जितपापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते।"

अजीव-पुण्य और अजीव-पाप दोनों पुद्गल द्रव्य-मय हैं और जीव के परिमाणों से इनका बंध होता है, इसलिये अजीव-पुण्य और अजीव-पाप दोनों समान हैं। किन्तु अजीव मोक्षमार्ग में सहकारी कारण हैं, क्योंकि उच्चगोत्र के उदय के बिना सकल-चारित्र धारण नहीं हो सकता और वज्रवृषभनाराच संहनन के बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता, जबकि अजीव-पाप मोक्ष-मार्ग

में बाधक है, क्योंकि नीचगोत्र के उदय में सकल चारित्र नहीं हो सकता और हीन-संहननवाला कर्मों का क्षय नहीं कर सकता। मोक्षमार्ग में सहकारिता और बाधकता के कारण 'पुण्य' और 'पाप' कर्म-प्रकृतियों में अंतर है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि देव भी यह वांछा करता है कि कब उत्तम-संहनन-वाला मनुष्य बनूं और सकल-चारित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त करूं।

मणुवगईए वि तओ मणुवगईए महव्वदं सयलं।
मणुवगदीए झाणं मणुवगदीए वि णिव्वाणं ।।
।।२९९।। (स्वा. का.)

अर्थ—मनुष्यगति में ही तप होता है। मनुष्यगति में ही समस्त महाव्रत होते हैं। मनुष्यगति में ही ध्यान होता है। मनुष्यगति से ही मोक्ष होता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि भी मोक्ष के साधनरूप मनुष्यगति आदि अजीव-पुण्य की इच्छा करता है। वह इच्छा सांसारिक सुख की वांछा न होने से निदान नहीं है, किन्तु मोक्ष की कारण है। कहा भी है—

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ।।१२२।।

ननु ज्ञानाराधनापरिणतस्य तपः-श्रुत-विषयरागेन रागित्वात्कथं मुक्तत्वं स्यात् इत्याशंक्याह—

विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ।।
।।१२३।। (आत्मानुशासन)

श्लोकार्थ—यह भव्य आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभ से शुभ को प्राप्त होता हुआ समस्त कर्म-मल से रहित होकर शुद्ध हो जाता

है। जैसे सूर्य जब तक प्रभात काल की लालिमा को नहीं प्राप्त होता है तबतक वह अन्धकारको नष्ट नहीं करता।

यहां प्रश्न होता है कि ज्ञान-आराधना-परिणत जीव के तप और श्रुत संबधी राग होने से, उसको मुक्ति कैसे हो सकती है, क्योंकि वह रागी है? इस शंका का आचार्य उत्तर देते हैं—

श्लोकार्थ—मिथ्याज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट कर देनेवाले प्राणी के अर्थात्—सम्यग्दृष्टि के जो तप और शास्त्र-विषयक अनुराग होता है, वह राग उस सम्यग्दृष्टि के स्वर्ग व मोक्ष के लिये होता है अर्थात् स्वर्ग मोक्ष का कारण है। जिस प्रकार सूर्य की प्रभात-कालीन लालिमा उस सूर्य की अभिवृद्धि का कारण होती है ॥१२३॥

श्री वीरसेन आचार्य ने भी जयधवल ग्रन्थ में इसी बात को कहा है—

"लोहो सिया पेज्जं, तिरयण-साहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्ति-दंसणादो अवसेसवत्थु-विसयलोहो णो पेज्जं, तत्तो पावुप्पत्तिदंसणादो ॥

(ज० ध० १ पृ० ३६९)

श्री पं० कैलाशचन्द्र तथा श्री पं० फूलचन्द्र कृत अर्थ—लोभ कथंचित् पेज्ज (राग) है, क्योंकि रत्नत्रय के साधक-विषयक लोभ से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति देखी जाती है। तथा शेष पदार्थ-विषयक लोभ पेज्ज नहीं है, क्योंकि उससे पाप की उत्पत्ति देखी जाती है।

इन आर्ष प्रमाणों से सिद्ध है कि सम्यग्दृष्टि भी मोक्ष के साधन-भूत पुण्य की इच्छा करता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य स्वयं पुण्य पाप का अन्तर बतलाते हुए कहते हैं—

वरं वयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ णिरई इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ।। २५ ।।
(मोक्ष-पाहुड़)

अर्थ—व्रत और तप रूप शुभ भावों से [पुण्य भावों से] स्वर्ग प्राप्त होना उत्तम है तथा अव्रत और अतप[अशुभ भाव, पाप भाव] से नरक में दुख प्राप्त होना ठीक नहीं है। जैसे छाया और धूप में बैठने वालों में महान् अन्तर है, वैसे ही व्रत [शुभ] और अव्रत [अशुभ] पालने वालों में महान् अंतर है।

यद्यपि जीवत्व भाव की अपेक्षा से संसारी और मुक्त जीव समान हैं तथापि कर्म-बंध और अबन्ध की अपेक्षा से संसारी जीव और मुक्त जीव में महान् अन्तर है। उसी प्रकार यद्यपि परसमय की अपेक्षा बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि अथवा पापी जीव और अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि अथवा पुण्यात्मा समान हैं तथापि मिथ्यात्वभाव–अयथार्थश्रद्धान और सम्यक्त्व–भाव यथार्थ–श्रद्धान की अपेक्षा बहिरात्मा और अन्तरात्मा में महान् अन्तर है। इसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्म पौद्गलिक होनें की अपेक्षा से यद्यपि समान हैं तथापि मोक्षमार्ग में साधकता और बाधकता की अपेक्षा से तथा सुख और दुख की अपेक्षा से पुण्य कर्म और पाप कर्म में महान् अन्तर है अतः अन्तरात्मा पुण्य जीव और पुण्य कर्म कथंचित् उपादेय हैं, सर्वथा हेय नहीं हैं।

यदि यह कहा जाय कि व्यवहारनय से पुण्य कथंचित् उपादेय हो सकता है किन्तु निश्चयनय से तो पुण्य सर्वथा हेय ही है। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चय नय में हेय-उपादेय का विकल्प नहीं होता।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने वारस अणुवेक्खा गाथा ८६ में "हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि" इन शब्दों द्वारा बतलाया है कि निश्चयनय

से न कोई हेय है और न कोई उपादेय है।

इस प्रकार अनेकान्त का आश्रय लेकर पुण्य और पाप का यथार्थ स्वरूप समझना चाहिये। यदि कोई एकान्त की हठ ग्रहण करेगा तो उसको संसार में भ्रमण करना पड़ेगा।

[६] एक ही परिणाम से दो विभिन्न कार्य

यह प्रश्न होता है कि शुभोपयोग (पुण्य भाव) से बंध होता है, और जो बंध को कारण है वह मोक्ष को कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि बंध और मोक्ष दोनों का एक कारण नहीं हो सकता है?

इस प्रश्न में दो बातें विचारणीय हैं (१) जो मोक्ष को कारण है क्या उससे बंध नहीं हो सकता, ? (२) शुभोपयोग अर्थात् पुण्य भाव वाले जीव के अथवा पुण्य-जीव के जो बंध होता है वह किस प्रकार का होता है? इनमें से प्रथम वार्ता पर विचार किया जाता है—

श्रीकुन्दकुन्द श्री पूज्यपाद आदि आचार्यों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि एक ही कारण से मोक्ष भी हो सकता है और पुण्य बंध होकर सांसारिक सुख भी मिल सकते हैं।

जिणवरमयेण जोई झाणे जाएह सुद्धमप्पाणं।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं २०
जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेइ गुरुभारं।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥२१
(मोक्ष पाहुड)

श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं—जिन भगवान्‌के मतसे योगी शुद्ध—आत्मा का ध्यान करता है जिससे वह मोक्ष पाता है। उसी आत्मध्यान से क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं करता? अर्थात् अवश्य प्राप्त कर सकता है ॥२०॥ जैसे जो पुरुष भारी बोझ लेकर एक दिन में सौ योजन जाता है; वही पुरुष क्या भूमि पर आधा कोस भी नहीं

चल सकता अर्थात् सरलता से चल सकता है ॥२१॥ (यहां पर यह बतलाया गया है कि जिस आत्म-ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है उसी आत्म-ध्यान से पुण्य-बंध होकर उसके फलस्वरूप स्वर्ग में देव होता है ।

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्दूरवर्तिनी ।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ? ॥४॥

(इष्टोपदेश)

अर्थ—जो परिणाम भव्य प्राणियों को मोक्ष प्रदान करता है, मोक्ष देने में समर्थ है, ऐसे आत्म-परिणामों के लिये स्वर्ग कितनी दूर हैं ? कुछ दूर नहीं हैं, वह तो उसके निकट ही समझो अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्मध्यान से पैदा किये हुए पुण्य का एक फल मात्र है। जैसे जो भार को ढोनेवाला अपने भार को दो कोस तक आसानी और शीघ्रता के साथ ले जा सकता है, तो क्या वह अपने भार को आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा ? नहीं होगा ॥४॥ यहाँ पर भी यही कहा गया है—जो आत्मा के परिणाम मोक्ष को कारण हैं उन्हीं आत्म-परिणामों से पुण्यबंध होकर स्वर्ग-लोक मिलता है ।

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः ।
अनन्तशक्तिरात्मायं भुक्तिं मुक्तिं च यच्छति ॥

(त० अ० गा० १९६)

अर्थ—गुरु का उपदेश मिलने पर एकाग्र-ध्यानियों के द्वारा यह अनन्त शक्ति-युक्त अर्हन् आत्मा का ध्यान किया जाता है जो मुक्ति तथा भुक्ति (पुण्य के फल रूप भोगों) को प्रदान करता है ।

ओंकारं बिन्दु-संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥

अर्थात्—मुनि-जन बिन्दु-सहित ओंकार का नित्य ध्यान करते हैं। वह ओंकार पुण्य के फल-स्वरूप भोगों तथा मोक्ष को देने

वाला है। इसलिये ओंकार को नमस्कार हो।

श्री वीरसेन आचार्य भी कहते हैं कि रत्नत्रय स्वर्ग का भी मार्ग है और मोक्ष का भी मार्ग है—

"स्वर्गापवर्ग–मार्गत्वाद्रत्नत्रयं प्रवरः। स उद्यते निरूप्यते अनेनेति प्रवरवादः॥

(ध० १३।२८७)

अर्थ—स्वर्ग का मार्ग और मोक्ष का मार्ग होने से रत्न–त्रय का नाम प्रवर है। उसका वाद अर्थात् कथन इसके द्वारा किया जाता है, इसलिये इस आगम का नाम प्रवरवाद है। (यहाँ पर भी यही कहा गया कि रत्नत्रय मोक्ष का भी कारण है और पुण्य–बंध का भी कारण है, जिससे स्वर्ग मिलता है।

एक ही आत्म-परिणाम से मोक्ष और पुण्य--बन्ध कैसे हो सकता है? इसका विशद विवेचन श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थ-सिद्धि में इस प्रकार किया है—

'-ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थान-प्राप्ति-हेतुत्वाभ्युपगमात्, तत् कथं निर्जराङ्गं स्यादिति? नैष दोषः, एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्। यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदन–भस्माङ्गारादि-प्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽ-भ्युदय-कर्म-क्षय-हेतुरित्यत्र को विरोधः।"

अर्थ—तप को अभ्युदय का कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान--विशेष की प्राप्ति के हेतु रूप से स्वीकार किया-गया है अर्थात् तप को पुण्य-बंध का कारण माना गया है। इसलिये वह निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है? यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अग्नि के समान तप एक होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है तथापि उसके विक्लेदन, भस्म और

अंगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय [मोक्ष] इन दोनों का कारण है। ऐसा मानने में क्या विरोध है।

यहाँ पर अग्नि का दृष्टान्त देकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जैसे एक अग्नि से अनेक कार्य देखे जाते हैं उसी प्रकार एक ही तप से पुण्य-बंध और कर्म-निर्जरा दोनों कार्य देखे जाते हैं।

इसी बात को वीरसेन आचार्य भी कहते हैं—

"अरहंतणमोकारो संपहिय बंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो। उक्तं च-

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण।

(जयधल पु. १ पृ. ९)

अर्थ—अरहंत-नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है, इसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। कहा भी है—जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। यही बात श्रीपं. कैलाशचन्द्रजी पं. फूलचन्द्रजी ने जयधवला में लिखी है।

यद्यपि अरहंत नमस्कार से कुछ बंध भी होता है तथापि उस बंध की अपेक्षा कर्म-निर्जरा असंख्यातगुणी है, इसीलिये अरहंत नमस्कार करनेवाला अति शीघ्र मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार एक ही परिणाम के बंध और निर्जरा दोनों कार्य होते हैं तथा मोक्ष भी होता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने दर्शनपाहुड़ में कहा है—

सेयासेयविदण्हू उद्धददुस्सील सीलवंतो वि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं १६

अर्थ—श्रेय और अश्रेय का जाननेवाला मिथ्यात्व को नष्ट करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सम्यग्दर्शन के फलस्वरूप अभ्युदय सुख पाकर फिर मोक्ष सुख पाता है।

यद्यपि सम्यक्त्व मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है तथापि वह भी बन्ध का कारण है। श्री उमास्वामि आचार्य तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ में लिखते हैं—

"सम्यक्त्वं च ॥२१॥"

अर्थात्—सम्यग्दर्शन देवायु के बंध का कारण है।

इस तत्त्वार्थ सूत्र पर श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित सर्वार्थ-सिद्धि टीका है। उसमें लिखा है।

"किम् ? देवस्यायुष आस्रव इत्यनुवर्तते,"

अर्थ इस प्रकार है—'शंका–सम्यक्त्व क्या है ? समाधान—देवायु का आस्रव है। इस पद की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति होती है।

यही बात श्री अकलंक देव ने राजवार्तिक टीका में कही है।

श्री श्रुतसागर आचार्य तत्त्वार्थवृत्ति में कहते हैं—

"सम्यक्त्वं तत्त्व-श्रद्धानलक्षणं देवायुरास्रवकारणं भवति।"

अर्थ—तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण रूप सम्यग्दर्शन देवायु के आस्रव का कारण है।

इसी सूत्र की टीका में श्री विद्यानन्द आचार्य श्लोकवार्तिक में लिखते हैं—

सम्यग्दृष्टेरनंतानुबंधि—क्रोधाद्यभावतः ।
जीवेष्वजीवताश्रद्धापायान्मिथ्यात्वहानितः ॥६॥
हिंसायास्तत्स्वभावाया निवृत्तेः शुद्धिवृत्तितः ।
प्रकृष्टस्यायुषो दैवस्यास्रवो न विरुध्यते ॥७॥

अर्थ—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों का अभाव हो जाने से, जीव में अजीव की श्रद्धा का नाश होजाने से, मिथ्यात्व चले जाने से, हिंसा और उसके स्वभाव का त्याग कर देने से और शुद्ध प्रवृत्ति से सम्यग्दृष्टि के उत्कृष्ट देवायु का बंध होने में कोई बाधा नहीं है।

श्री पूज्यपाद आदि सभी महानाचार्यों ने 'सम्यक्त्व से ही उत्कृष्ट देवायु का बंध होता है, ऐसा कहा है। इनमें से किसी भी आचार्य ने यह नहीं कहा कि मात्र राग से उत्कृष्ट देवायु का बन्ध होता है। यदि मात्र राग से उत्कृष्ट देवायु का बन्ध होने लगे तो 'सम्यक्त्वं च' यह सूत्र निरर्थक हो जायेगा।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य (समयसार। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय के टीकाकार) ने भी तत्त्वार्थसार में सम्यक्त्व आदि से देवायु के आस्रव का कथन किया है।

सरागसंयतश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः ।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥३४॥

अर्थ—सराग संयम, सम्यक्त्व और देश-संयम ये देवायु के आस्रव (बन्ध) के कारण हैं।

इन्हीं सम्यग्दर्शन देश-संयम और संयम को निर्जरा का कारण बतलाया गया है। श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा भी है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः संयतासंयतस्ततः ।
संयतस्तु ततोऽनन्तानुबन्धि–प्रवियोजकः ।।५५।।
दृग्मोहक्षपकस्तस्मात्तथोपशमकस्ततः ।
उपशान्तकषायोऽतस्ततस्तु क्षपको मतः ।।५६।।
ततः क्षीणकषायस्तु घातिमुक्तस्ततो जिनः ।
दशैते क्रमतः सन्त्यसंङ्ख्येयगुणनिर्जराः ।।५७।।

यहां पर असंख्यात-गुणी निर्जरा के दस स्थान बतलाये गये हैं। इनमें से असंख्यात–गुणी निर्जरा के प्रथम तीन स्थान सम्यक्त्व, देश संयम और संयत के हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि निर्जरा के कारण भी हैं और बंध के कारण भी हैं

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने रयणसार में और दर्शन-पाहुड में कहा है कि सम्यग्दर्शन से सुगति प्राप्त होती है—

सम्मत्तगुणाइ सुग्गइ मिच्छादो होइ दुग्गई णियमा ।
इदि जाण किमिह वहुणा जं ते रूचेइ तं कुणहो ।६६।

अर्थात्—सम्यक्त्व गुण से इन्द्र चक्रवर्ती आदि सुगति नियम से मिलती है और मिथ्यात्व से नरकादि दुर्गति मिलती है। ऐसा जानकर जो तुम को रुचे सो करो।

सम्यग्दर्शन से निर्जरा भी होती है और वह सुगति के बन्ध का कारण भी है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने सम्यग्दर्शन का फल वर्णन करते हुए रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है कि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव नरक, तिर्यञ्च गति को, नपुन्सक और स्त्री पर्याय को तथा निद्य-कुल को, अङ्गों की विकलता को, अल्पआयु तथा दरिद्रता को प्राप्त

नहीं होता किन्तु देवेन्द्र चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है।

नव-निधि-सप्तद्वय-रत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥
अमराऽसुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाऽम्भोजा,
दृष्ट्या सुनिश्चिताऽर्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोक-शरण्याः

अर्थ—जो निर्मल सम्यग्दर्शन के धारक हैं वे नवनिधियों तथा चौदह रत्नों के स्वामी और षट्खण्ड के अधिपति होते हैं, चक्ररत्न को प्रवर्तित करने में समर्थ होते हैं, और उनके चरणों में राजाओं के मुकुट—शेखर झुकते हैं अर्थात् मुकुटबद्ध राजा उन्हें सदा प्रणाम किया करते हैं। वे धर्मचक्रके धारक तीर्थंकर होते हैं जिनको देवेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्र तथा गणधर स्तुति करते हैं और जो लौकिक जनों के लिये शरण्यभूत होते हैं।

श्री समन्तभद्र आचार्य के उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्यग्दर्शन से वह पुण्य-बंध होता है जिसके फल-स्वरूप चक्रवर्ती, देवेन्द्र, तीर्थंकर आदि पद प्राप्त होते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार का पुण्य कर्म बंध नहीं कर सकता जिसका फल चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि पद हो।

धवल पु० ८ तथा तत्त्वार्थ सूत्र आदिक सभी आर्ष ग्रन्थों में दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं को तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण बतलाया है। श्री भास्करनन्दि आचार्य ने दर्शनविशुद्धि की निम्न प्रकार व्याख्या की है—

"दर्शनं तत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षणं प्रागुक्तम्। तस्य विशुद्धिः सर्वातिचारविनिर्मुक्तिरुच्यते। दर्शनस्य विशुद्धिर्दर्शनविशुद्धिः।"

अर्थ—दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थ-श्रद्धान है। जो सम्यग्दर्शन सर्व अतिचारों से रहित है वह विशुद्ध सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन की विशुद्धि दर्शन-विशुद्धि है।

यह दर्शन-विशुद्धि यद्यपि मोक्ष का कारण है, क्योंकि इसके बिना सम्यग्ज्ञान व सम्यक्‌चारित्र नहीं होता तथापि तीर्थंकर प्रकृति के बंध का मुख्य कारण है। सुखबोध-तत्त्वार्थवृत्ति में कहा भी है—

"दर्शनविशुद्धिसहितानि तीर्थंकरत्वस्य नाम्नस्त्रिजगदाधिपत्यफलस्यास्रव-कारणानि भवन्ति। तत एव दर्शन-विशुद्धिः प्रथममुपात्ता प्राधान्यख्यापनार्थं तदभावे तदनुपपत्तेः।"

अर्थ—ये सोलह भावना पृथक्-पृथक् भी दर्शनविशुद्धिसे सहित, तीन जगत् के अधिपति रूप फलवाले तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव का कारण होती हैं। दर्शन-विशुद्धि तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का प्रधान कारण है। क्योंकि दर्शनविशुद्धि के अभाव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता। इसलिये सोलह कारणों में दर्शन विशुद्धि को प्रथम कहा गया है।

(७) रत्नत्रय से बन्ध

शंका—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र ये तो संवर, निर्जरा व मोक्षके कारण हैं और राग द्वेष आस्रव तथा बन्ध के कारण हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र राग-द्वेष रूप नहीं हैं, अतः ये बन्ध के कारण नहीं हो सकते।

श्री अमृतचन्द आचार्य ने कहा भी है—

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥

(पु. सि. उ.)

अर्थात्—योग से प्रदेश-बन्ध तथा कषाय से स्थिति-बन्ध होता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र न योगरूप हैं और न कषाय रूप हैं इसलिये ये बन्ध के कारण नहीं हैं।

समाधान—इन्हीं अमृतचन्द आचार्य ने तत्त्वार्थसार के आस्रव अधिकार श्लोक नं. ४३ में सम्यग्दर्शन व संयम से देवायु का बन्ध और श्लोक नं. ४९ से ५२ में सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा तप आदि से तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कथन किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः ।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४३॥
विशुद्धिदर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तितः ।
मार्गप्रभावना चैव संपत्तिर्विनयस्य च ॥४९॥
शीलव्रतानतीचारो नित्यं संवेगशीलता ।
ज्ञानोपयुक्तताभीक्ष्णं समाधिश्च तपस्विनः ॥५०॥
वैयावृत्त्यमनिर्हाणिः षड्विधाऽवश्यकस्य च ।
भक्तिः प्रवचनाचार्य-जिनप्रवचनेषु च ॥५१॥
वात्सल्यं च प्रवचने षोडशैते यथोदिताः ।
नाम्नस्तीर्थंकरत्वस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥५२॥

एक ही आचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में तो यह कथन करें कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से बन्ध नहीं होता है और तत्त्वार्थसार में यह कथन करें कि सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र से तीर्थंकर प्रकृति आदि का बन्ध होता है। एक ही आचार्य द्वारा परस्पर-विरुद्ध कथन होने में क्या कारण है यह बात विशेष विचारणीय है।

इसके लिये सर्व प्रथम 'कारण' की व्याख्या जानना अत्यन्त आवश्यक है।

जिसका कार्य के साथ अन्वय व व्यतिरेक हो, वह कारण होता है। कहा भी है—

"यद्भावाभावाभ्यां यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तत् तत्कारण-मिति लोकेऽपि सुप्रसिद्धत्वात् ।"

(प्रमेय-रत्नमाला १।१३)

अर्थ—जिसके सद्भाव में जिस कार्य की उत्पत्ति हो और जिसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति न हो, वह पदार्थ उस कार्य का कारण होता है, यह बात लोक में भी सुप्रसिद्ध है।

"यद्यस्मिन् सत्येव भवति चासति न भवति तत्तस्य कारणमिति न्यायात् ।"

(धवल पु० १२।२८९)

अर्थ—जो जिसके होनेपर ही होता है और जिसके न होने पर नहीं होता है, वह उसका कारण होता है।

"यद्यस्य भावाभावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात् ।"

(धवल पु. १४ पृ. १३)

अर्थ—जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है। यह कार्यकारण भाव के ज्ञाता कहते हैं, ऐसा न्याय है।

इस कार्य-कारण भाव की व्याख्या से सिद्ध होता है कि तीर्थंकर आदि प्रकृतियों का बंध सम्यग्दर्शन आदि के सद्भाव में होता है और सम्यग्दर्शन आदि के अभाव में मिथ्यादृष्टि के तीर्थंकर आदि प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है इसीलिये श्री अमृतचन्द्र आदि

आचार्यों ने तीर्थंकर आदि प्रकृतियों के बन्ध का कारण सम्यग्दर्शन आदि को बतलाया है।

तीर्थंकर आदि प्रकृतियों का कारण मात्र सम्यग्दशन नहीं है किन्तु राग का सद्भाव भी कारण है, क्योंकि राग के सद्भाव में ही तीर्थंकर प्रकृति आदि का बन्ध होता है, राग के अभाव में वीतराग सम्यग्दृष्टि के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता।

यदि कहा जाय कि एक कार्य का एक ही कारण होता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य मात्र एक कारण से उत्पन्न नहीं होता किन्तु अनेक कारणों रूप अखिल अनुकूल सामग्री से और प्रतिकूल कारणों के अभाव में उत्पन्न होता है। कहा भी है—

"सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्।"

(आप्त-परीक्षा कारिका ९)

अर्थात्—सामग्री (जितने कार्य के जनक होते हैं उन सबको सामग्री कहा जाता है) कार्य की उत्पादक है, एक ही कारण कार्य का उत्पादक नहीं है।

"कारण–सामग्गीदो उप्पज्जमाणस्स कज्जस्स वियल-कारणादो समुप्पत्तिविरोहा।"

अर्थ—कारण-सामग्री से उत्पन्न होनेवाले कार्य की विकल कारणों से उत्पत्ति का विरोध है।

"कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात्।"

(रा. वा. ५।१७।३१)

अर्थ—कार्य की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है। अनेक कारणों से कार्य सिद्ध होता है।

इस प्रकार तीर्थंकर आदि के बन्ध में राग भी कारण है और सम्यग्दर्शन आदि भी कारण है। जैसे मछली की गति में जल भी

कारण है और धर्म-द्रव्य भी कारण है, रागादि की उत्पत्ति में अशुद्ध जीव भी कारण है और कर्मोदय भी कारण है।

अनेक कारणों में से कहीं पर किसी एक कारण की मुख्यता से कथन होता है और कहीं पर अन्य कारण की मुख्यता से कथन होता है, किन्तु इस मुख्यता का यह अभिप्राय है कि अन्य कारण गौण हैं अथवा उनकी विवक्षा नहीं है, उन अन्य कारणों का अभाव इष्ट नहीं होता है। "अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥५। ३२।" (त. सू.)

जैसे माता-पिता दोनों के संयोग से पुत्र की उत्पत्ति होती है। किन्तु विवक्षा-वश कोई उस पुत्र को पिता का कहता है और कोई उसको माता का कहता है। श्री समयसार की टीका में कहा भी है।

"एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलु स्फुटं। कस्मात्? पुद्गलकर्मोदय–संभवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति, इति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः। परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्लरूपाः शुद्धाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्, ये केचन वन्दत्येकांतेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्लसम्बन्धिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मादिति चेत् पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात्॥"

(समयसार गा. १११ की टीका)

यहाँ पर पुत्र का दृष्टांत देकर यह बतलाया है कि "जिस प्रकार

से स्त्री तथा पुरुष दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए एक ही पुत्र को विवक्षा के वश से कोई तो उस पुत्र को देवदत्ता-माता का कहता है और कोई देवदत्त पिता का कह देता है। इसमें कोई दोष नहीं है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व-रागादि भाव अशुद्ध निश्चय नय से चेतन रूप हैं, जीव के हैं, और शुद्ध निश्चय नय से अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं। एकान्त से न जीव-रूप हैं और न पुद्गल रूप हैं जैसे चूना और हल्दी के संयोग से रक्त वर्ण उत्पन्न हो जाता है। जो इन मिथ्यात्व-रागादि को जीवरूप ही हैं या पुद्गल ही हैं, ऐसा एकान्त से कहते हैं, उनके वचन मिथ्या (झूठे) हैं, क्योंकि स्त्री-पुरुष के दृष्टान्त के समान इन रागादि की उत्पत्ति जीव और पुद्गल दोनों के संयोग से हुई है।

इसी प्रकार सम्यक्त्व आदि और रागादि के संयोग से तीर्थंकर आदि कर्मों का बन्ध होता है। विवक्षा-वश कहीं पर सम्यक्त्व आदि से तीर्थंकर आदि कर्मों का बन्ध कहा गया है और कहीं पर रागादि से तीर्थंकर आदि का बन्ध कहा गया है, नय-ज्ञाताओं के लिये इसमें कोई दोष नहीं है। एकान्त से तीर्थंकर आदि कर्मों का बन्ध न मात्र सम्यक्त्व आदि से होता है और न मात्र रागादि से होता है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने स्वयं पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा भी है—

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र से तीर्थंकर और आहार शरीर का बंध होता है, ऐसा जो आगम में उपदेश दिया गया है, वह नय को जानने वालों को दोष के लिये नहीं है अर्थात् नय के जाननेवालों को उसमें कोई शंका उत्पन्न नहीं होती है।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः ।
योगकषायौ तस्मात्तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् । १२८ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र के होने पर ही योग और कषाय तीर्थंकर व आहारक का बन्ध करते हैं, किन्तु सम्यक्त्व व चारित्र न होने पर योग और कषाय तीर्थंकर व आहार का बन्ध नहीं कर सकते। इसलिये सम्यक्त्व व चारित्र इसमें उदासीन हैं प्रेरक नहीं हैं।

जीव और पुद्गल धर्मद्रव्य के सद्भाव में ही गमन करते हैं और धर्मद्रव्य के अभाव में जीव और पुद्गल गमन नहीं कर सकते इसलिये गति-हेतुत्व लक्षण वाला धर्म-द्रव्य जीव और पुद्गल की गति में उदासीन कारण है, प्रेरक कारण नहीं है। उसी प्रकार सम्यक्त्व व चारित्र के सद्भाव में ही योग और कषाय तीर्थंकर आदि का बन्ध कर सकते हैं और सम्यक्त्व व चारित्र के अभाव में योग व कषाय तीर्थंकर आदि का बन्ध नहीं कर सकते, इसीलिये धर्म द्रव्य के समान सम्यक्त्व व चारित्र को उदासीन कारण कहा है, प्रेरक कारण नहीं कहा है।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्र आचार्य के तत्त्वार्थसार व पुरुषार्थसिद्ध्युपाय इन दोनों ग्रन्थों के कथनों में कोई विरोध नहीं है। जिनको नय–विवक्षा का ज्ञान नहीं है अथवा जिनकी एकान्तदृष्टि है, उनको ही श्री अमृतचन्द्र आचार्य के दोनों कथनों में विरोध प्रतिभासित होता है।

शंकाकार ने जो पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का श्लोक २१५ अपनी शंका में उद्धृत किया है उससे भी तत्त्वार्थसार के इस कथन में, कि दर्शन व चारित्र से तीर्थंकर आदि का बंध होता है, कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि श्लोक २१५ में शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा कथन है। "सव्वे सुद्धाहु सुद्धणया" अर्थात् शुद्ध निश्चय नयसे सब जीव शुद्ध हैं अथवा "सुद्धणया सुद्धभावाणं" शुद्ध नय से जीव शुद्ध भावों

का कर्ता हैं अर्थात् बन्ध का कर्ता नहीं है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कहा है कि रत्नत्रय से बन्ध भी होता है और मोक्ष भी होता है—

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।
साधूहिं इदं भणिदं तेहिं दु बंघो व मोक्खो वा।१६४।

(पंचास्तिकाय)

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग हैं, इसलिये वे सेवने योग्य हैं ऐसा साधुओं ने कहा है परन्तु उनसे बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

इसकी टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

"यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र यदि अल्प भी पर-समय प्रवृत्ति के साथ मिलित हों (यदि दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर-समय अर्थात् ये तीनों अन्तरात्मा के आश्रय हों) तो, अग्नि के साथ मिलित घृतकी भाँति, कथंचित् विरुद्ध कार्य के कारणपने की व्याप्ति के कारण, बंध के कारण भी हैं। जब वे दर्शन ज्ञान चारित्र समस्त परसमय (अन्तरात्मा) की प्रवृत्ति से निवृत्त होकर स्वसमय (परमात्मा) की प्रवृत्ति के साथ संयुक्त होते हैं तब, अग्नि के मिलाप से निवृत्त घी के समान, विरुद्ध कार्य कारण भाव का अभाव होने से, साक्षात् मोक्ष का कारण होते हैं।

इस प्रकार अन्तरात्मा के आश्रित जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वह बंध को भी कारण हैं और संवर निर्जरा का भी कारण हैं तथा परम्परा मोक्ष का भी कारण हैं।

शंकाकार का यह कहना कि, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के ही कारण हैं, बंध के कारण नहीं हैं, ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा एकान्त नहीं है।

(८) शुभ परिणामों से अतिशय पुण्यबंध

शंका—शुभ परिणामों से पुण्य बंध होता है। पुण्य से भोगोपभोग की सामग्री मिलती है। भोगोपभोग में आसक्त होकर जीव संसारमें भ्रमण करता है, अतः पुण्य हेय है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि के तो अशुभ परिणाम होता है। कहा भी है—

"मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः।

(प्रवचनसार गा० ९ टीका)

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान, सासादन दूसरा गुणस्थान और सम्यग्मिथ्यात्व तीसरा गुणस्थान इन तीनों गुणस्थानोंमें तरतमता से अशुभोपयोग है।

इससे सिद्ध है कि शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि के होता है। सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग से जो अतिशय पुण्य-बंध होता है वह मोक्ष का कारण है संसार का कारण नहीं है। कहा भी है—

सम्मादिट्ठिपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥४०४
अकयणियाणसम्मो पुण्णं काऊण णाणचरणट्ठो।
उप्पज्जइ दिवलोए सुहपरिणामो सुलेसो वि ॥४०५

(भावसंग्रह)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसारका कारण कभी नहीं होता, यह नियम है। यदि निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है। जिस सम्यग्दृष्टि के शुभ परिणाम हैं और शुभ लेश्याएँ हैं तथा जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को धारण करनेवाला है, ऐसा सम्यग्दृष्टि यदि निदान नहीं करता है तो वह मरकर स्वर्गलोक में ही जाता है।

कि दाणं मे दिण्णो केरिसपत्ताण काय सु भत्तीए ।
जेणाहं कयपुण्णो उप्पण्णो देवलोयम्मि ॥४१७॥
इय चिततोपसरइ ओहीणाणं तु भवसहावेण ।
जाणइ सो आइवभव विहियं धम्मप्पहावं च ॥४१८
पुणरवि तमेव धम्म मणसा सद्दहइ सम्मदिट्ठी सो ।
वंदेइ जिणवराणं खंदीसर पहुइ सव्वाइं ॥४१९
इय वहुकालं सग्गे भोगं भुंजंतु विविहरमणीयं ।
चइऊण आउसखए उप्पज्जइ मच्चलोयम्मि ॥४२०
उत्तमकुले महंतो वहुजणणमणीय संपयाउरे ।
होऊण अहियरूवो वलजोव्वण रिद्धिसंपुण्णो ॥४२१
तत्थ वि विविहे भोए णरखेत्ताभवे अणोवमे परमे ।
भुंज्जित्ता णिविण्णो संजमयं चेव गिण्हेई ॥४२२
लद्धं जइ चरमतणु चिरकयपुण्णेण सिज्झए णियमा ।
पाविय केवलणाणं जहखाइयं संजमं सुद्धं ॥४२३
तम्हा सम्मादिट्ठीपुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥४२४

अर्थ—देव विचारता है कि मैं ने पूर्व भव में किस पात्रको और कैसी भक्ति के साथ दान दिया था, जिस के पुण्य-उपार्जन से देव-लोक में उत्पन्न हुआ हूँ। इस प्रकार चिन्तवन करके वह देव भव–प्रत्यय अवधिज्ञानसे पूर्व भव को और की गई धर्म प्रभावनाको जान लेता है। वह सम्यग्दृष्टि देव पुनः अपने मन में उसी धर्म का श्रद्धान करता है जिस धर्म के प्रभाव से वह देव हुआ था और नन्दी-

श्वर द्वीप आदि में जिन प्रतिमाओं की वंदना करता है। इस प्रकार वह स्वर्ग में बहुत काल तक अनेक प्रकार के सुन्दर भोगों को भोगता है और आयु पूर्ण होने पर च्युत होकर इस मनुष्य लोक में उत्पन्न होता है। बहु-जन-माननीय महत्वशाली धनवान् कुल में उत्पन्न होता है और बहुत सुन्दर शरीर तथा बल ऋद्धि यौवन आदि से परिपूर्ण होता है। मनुष्यलोक में भी सर्वोत्कृष्ट अनुपम तथा नाना प्रकार के भोगों का भोग करके विरक्त हो संयम धारण कर लेता है। यदि चिरकाल के संचित किये हुए पुण्य कर्मोदय से चरमशरीरी हुआ तो शुद्ध यथाख्यात चारित्र को धारण करके केवल-ज्ञान को प्राप्त कर नियम से सिद्ध होता है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, यह जानकर गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य उपार्जन करते रहना चाहिये ॥४३४॥

"निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परम्परया निर्वाण-कारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादि-पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवति।"

(समयसार पृ० १८६)

अर्थ—निश्चयसम्यग्दर्शन के अभाव में जब सराग सम्यक्त्व को धारण करता है तब शुद्धात्मा को उपादेय करके परंपरा मोक्ष के कारणभूत तीर्थंकर आदि पुण्यकर्मों को बाँधता है।

अनुप्रेक्षा इमाः सद्भिः सर्वदा हृदये धृताः।
कुर्वंते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयोः ॥६।५८॥

(प. पं. वि.)

अर्थ—सज्जनों के द्वारा सदा हृदय में धारण की गई ये बारह

भावना उस उत्कृष्ट पुण्य को उपार्जन करती हैं जो कि स्वर्ग और मोक्ष का कारण होता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चम्ममएणच्छिणा वि तं पुण्णं।
जं जणइ पुरो केवलदंसणणाणाइं णयणाइं ।१४।१६।

(प. पं. वि)

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! चर्ममय नेत्र से भी आप का दर्शन होने पर वह पुण्य प्राप्त होता है, जो कि भविष्य में केवल दर्शन और केवलज्ञान को उत्पन्न करता है।

"पुण्ण-कम्म–बंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं, ण मुणीणं कम्मक्खयकंक्खुवाणमिदि ण व त्तु जुत्तं, पुण्ण-बंध-हेउत्तं पडि विसेसाभावादो, मंगलस्सेव सरागसंजमस्स वि परिच्चागप्पसंगादो। ण च एवं, तेण संजमपरिच्चा-गप्पसंग–भावेण णिव्वुइ–गमणाभावप्पसंगादो ॥"

(जयधवल पु० १, पृ० ८)

अर्थ—यदि कहा जाय पुण्य कर्म बाँधने के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है ? सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्य बंध के कारणों के प्रति देशव्रती और मुनि में कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् पुण्य के बंध के कारण भूत कार्यों को जैसे देशव्रती करता है वैसे ही मुनि भी करता है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिस प्रकार मुनियों को मंगल के परित्याग के लिये कहा जा रहा है, उसी प्रकार उनके सरागसंयम के भी परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि देशव्रत के समान सराग संयम भी पुण्यबंध का कारण है। यदि कहा जाय कि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो होने दो ? सो

भी बात नहीं है, क्योंकि मुनियों के सरागसंम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से उन के मुक्तिगमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

यहाँ पर श्री वीरसेन आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सराग-संयम के बिना विशिष्ट पुण्य बंध नहीं हो सकता है। और विशिष्ट पुण्योदय के अभाव में मोक्ष भी नहीं हो सकती है। इसी लिये यह कहा गया है "सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से मुक्ति-गमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।"

इसी बातको श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।।२११।।

अर्थ—सम्पूर्ण रत्नत्रय के भावने वाले (धारण करने वाले) के जो कर्मबंध होता है, वह कर्मबंध विपक्ष (असम्पूर्णता जघन्यता) कृत है। वह कर्म-बन्धन अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं है।

असमग्र रत्नत्रय वालों के तीर्थकर आदि कर्म–प्रकृतियों का बन्ध होता है वह तीर्थंकर आदि कर्म-प्रकृतियाँ मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं है, जैसा कि पंचास्तिकाय गाथा ८५ की टीका में कहा भी है—

"रागादिदोष–रहितः शुद्धात्मानुभूति–सहितो निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदानरहित-परिणामोपार्जित–तीर्थंकरप्रकृत्युत्तम-संहननादिविशिष्ट-पुण्यरूप-धर्मोपि सहकारिकारणं भवति।'

अर्थ—यद्यपि भव्य को रागादि दोष रहित शुद्धात्मानुभूति रहित निश्चय धर्म सिद्ध गति के लिए उपादान कारण है तथापि निदानरहित परिणामों से उपार्जित तीर्थंकर कर्म प्रकृति उत्तम संहनन आदि विशिष्ट पुण्य रूप धर्म भी सिद्ध गति के लिए सहकारी कारण होता है।

इस आगम प्रमाणसे भी सिद्ध है कि असमग्र रत्नत्रयवालों के जो विशिष्ट पुण्य कर्म, बन्ध होता है—वह मोक्ष का उपाय (कारण) है, बन्ध का उपाय (कारण) नहीं है। इसका विशेष कथन प्रकरण नं० ४ में है।

(९) समयसार ग्रन्थकी अपेक्षा पुण्य–पापका विचार

शंका नं० १—श्री समयसार के पुण्य–पाप अधिकार में तथा गाथा १३ की टीका में पुण्य–पाप दोनों को समान कहा है, फिर पुण्य-पाप में भेद क्यों दिखाया जा रहा है?

समाधान नं०१—आचार्य प्रत्येक ग्रन्थ की आदि में यह बतला देते हैं कि इस ग्रन्थ में किस का कथन किया जायगा। यदि उसको दृष्टि में रखकर ग्रन्थ का अध्ययन किया जाय तो ग्रन्थ का यथार्थ अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होती है। जैसे षटखंडागम के प्रारंभ में यह स्पष्ट कर दिया है कि इस षट्खंडागम ग्रन्थ में भाव–मार्गणा की अपेक्षा कथन है। यदि इस को भूलकर षट्खण्डागम के कथन को द्रव्य मार्गणाओं में लगाने लगें तो वह षट्खण्डागम का यथार्थ अर्थ नहीं समझ सकता।

इसी प्रकार समयसार की गाथा ५ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने यह प्रतिज्ञा की है कि इस ग्रन्थ में एकत्वविभक्त आत्मा का कथन होगा, क्योंकि काम भोग और बन्ध का कथन सुलभ है किन्तु एकत्वविभक्त आत्मा की कथा सुलभ नहीं है। एकत्वविभक्त आत्मा के कथन के साथ बन्ध का कथन करना उचित नहीं है (समयसार-गाथा ३ व ४)। यदि गाथा ३-४-५ को ध्यान में रखकर समयसार

का अध्ययन किया जाय तो समयसार का यथार्थ भाव समझ में आ सकता है, अन्यथा नहीं।

समयसार गाथा ६ में कहा है कि "जीव न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है अर्थात् न संसारी और न मुक्त है।" यह कथन एकत्वविभक्त आत्मा की अपेक्षा तो सत्य है, भूतार्थ है, किंतु सर्वथा सत्य नहीं है, क्योंकि संसारी जीव प्रत्यक्ष देखने में आ रहे हैं। श्री उमास्वामी आचार्य ने भी तत्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में "संसारिणो मुक्ताश्च।" सूत्र द्वारा जीव संसारी और मुक्त ऐसे दो प्रकार के बतलाये हैं तथा रयणसार में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने जीव को बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा तीन प्रकार का बतलाया है। यदि समयसार गाथा ६ के कथन को एकत्वविभक्त आत्मा की अपेक्षा न लगाकर सर्वथा सत्य मान लिया जाय तो मोक्षमार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जायगा।

समयसार गाथा ७ में कहा है कि 'जीव के न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है। व्यवहारनय से ज्ञान--दर्शन--चारित्र कहे गये हैं।" गाथा ११ में व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा है, यह कथन एकत्व-विभक्त-आत्मा की अपेक्षा सत्यार्थ है। यदि इस कथन को सर्वथा सत्यार्थ मान लिया जाय तो श्री उमास्वामी आचार्य का "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" यह सूत्र व्यर्थ हो जायगा।

समयसार गाथा १३ की टीका में जहाँ पर पुण्य-पाप को जीव के विकार कहा है, वहाँ पर मोक्ष को भी जीव का विकार कहा है। यह वाक्य इस प्रकार है—

"केवलजीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंध-मोक्षलक्षणाः।"

अर्थ—पुण्य पाप-आस्रव संवर निर्जरा बन्ध मोक्ष जिसका लक्षण है ऐसा केवल (अकेले) जीव का विकार है।

यदि कोई इस वाक्य से यह फलितार्थ करे कि पुण्य-पाप सर्वदा

समान हैं तो उसको यह भी स्वीकार करना होगा कि आस्रव-बंध-संवर--निर्जरा--मोक्ष ये सब भी सर्वथा समान हैं। किन्तु जिस प्रकार जीवविकार की अपेक्षा आस्रव--बन्ध--संवर-निर्जरा-मोक्ष ये सब समान हैं, उसी प्रकार जीवविकार की अपेक्षा पुण्य-पाप भी समान हैं। जिस प्रकार आस्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष में अन्तर है, सर्वथा समान नहीं हैं, उसी प्रकार पुण्य-पाप में भी अन्तर है, सर्वथा समान नहीं हैं।

समयसार पुण्य-पाप अधिकार में दृष्टांत दिया है कि एक ही माता के उदर से दो पुत्र उत्पन्न हुए उनमें से एक ब्राह्मण के यहाँ पला और दूसरा शूद्र के यहाँ पला। जो ब्राह्मण के यहाँ पला वह तो मद्य आदि का त्याग कर देता है अर्थात् श्रावक के अष्टमूल गुण पालन कर धर्म-मार्ग पर लग जाता है। और जो शूद्र के यहाँ पला था वह नित्य मदिरा आदि का सेवन करता है अर्थात् जैन धर्म से विमुख रहता है तथा धर्मोपदेश का पात्र भी नहीं होता। एक ही माता के उदर से उत्पन्न होने के कारण समान होते हुए भी, दोनों में बहुत अन्तर है, क्योंकि एक धर्ममार्गी है और एक धर्म से विमुख है। इस प्रकार पुण्य और पाप दोनों का उपादान कारण एक होने पर भी उनमें बहुत अन्तर हैं, क्योंकि पुण्योदय [उत्तम संहनन, उच्चगोत्र तीर्थंकर प्रकृति आदि] मोक्ष-मार्ग में सहकारी हैं। और पापोदय [हीन संहनन, नीच क्षेत्र आदि] मोक्षमार्ग में बाधक है और श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार गाथा १४५ की टीका में कहा भी है—

"शुभाशुभौ मोक्षबंधमार्गौ

अर्थात—शुभ (पुण्य) मोक्षमार्ग है और अशुभ [पाप] बन्ध-मार्ग है।

इस प्रकार समयसार ग्रन्थ में पुण्य व पाप को किन्हीं अपेक्षाओं से समान बतलाते हुए भी उनमें मोक्षमार्ग व संसारमार्ग की अपेक्षा अन्तर बतलाया है।

(१०) पंचास्तिकाय ग्रन्थ की अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १३२ में शुभ से पुण्य आस्रवका कथन करके गाथा १३५ में शुभ के तीन भेद किये हैं– (१) प्रशस्त राग, (२) अनुकम्पा, (३) अकलुषता। इन तीनों का स्वरूप गाथा १३६, १३७ व १३८ में कहा गया है। वे गाथा इस प्रकार हैं—

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि। १३५
अरहंत-सिद्ध-साहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१३६॥
तिसिदे बुभुक्खिदे वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो,
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा।१३७।
कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसे त्ति य तं बुधा वेंति। १३८

अर्थ—जिस जीव के प्रशस्त राग, अनुकम्पायुक्त परिणाम और अकलुषता है उस जीव के पुण्य का आस्रव होता है। ।१३५। अर्हंत-सिद्ध-साधु की भक्ति, सरागचारित्र रूप प्रवृत्ति, गुरुओं के अनुकूल चलना यह प्रशस्तराग है, ऐसा आचार्य कहते हैं ॥ १३६ ॥ जो कोई प्यासे-भूखे तथा दुखी को देखकर दुखी होता हुआ दयाभाव से उसका दुख दूर करता है उसके यह अनुकम्पा होती है ॥१३७॥ जिस समय क्रोध मान माया लोभ चित्तमें उत्पन्न हो करके आत्मा के भीतर आकुलता पैदा कर देते हैं, वह आकुलता कलुषता है, इस कलुषता का अभाव अकलुषता है ॥ १३८ ॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय की उपर्युक्त गाथाओं

में पुण्य आस्रव के तीन कारण बतलाये हैं—(१) प्रशस्तराग, (२) अनुकम्पा, (३) अकलुषता। तीनों ही सम्यग्दर्शन के गुण हैं। 'प्रशस्त राग' संवेग और भक्ति का नामान्तर है। 'अकलुषता' उपशम या प्रशम का पर्यायवाची है। सम्यग्दर्शन के आठ गुण निम्न प्रकार हैं—

संवेगो णिव्वेओ णिंदा गरहा उमसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥४९॥

(वसु. श्राव.)

अर्थ—सम्यग्दर्शन के होने पर संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण उत्पन्न होते हैं ॥ ४९ ॥

इनका लक्षण इस प्रकार है—

धर्मे धर्मफले च परमा प्रीतिः संवेगः । सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रेषु तद्वत्सु च भक्तिः । रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः । जीवेषु दयालुताऽनुकम्पा ।

अर्थात्—धर्म और धर्म के फल में उत्कृष्ट प्रीति अर्थात् अनुराग संवेग गुण है। सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रमें और इस ही रत्नत्रय के धारण करने वालों में भक्ति का होना सो भक्ति गुण है। रागादि अर्थात् क्रोध मान माया लोभ कषाय का अनुद्रेक अर्थात् कलुषता का न होना वह प्रशम अथवा उपशम गुण है। जीवों को दुखी देखकर उन उन के दुख दूर करने के लिये जो दयारूप परिणाम वह अनुकम्पा है, गुण है।

सम्यग्दर्शन के जो संवेग-भक्ति, प्रशम-उपशम तथा अनुकम्पा गुणों के जो लक्षण ऊपर कह गये हैं श्री कुन्दकुन्दआचार्य ने वे ही लक्षण पुण्य आस्रव के कारणभूत प्रशस्त राग अनुकम्पा और अक-

लुषता के पंचास्तिकाय गाथा १३६, १३७, १३८ में कहे हैं। इस से ज्ञात होता है कि पुण्य-आस्रव के कारणभूत प्रशस्तराग, अनुकम्पा और अकलुषता ये सम्यग्दर्शन के गुण होने से मोक्ष-मार्ग में सहकारी कारण हैं।

अर्थात्—पुण्य मोक्ष-मार्ग में सहकारी कारण है। यही बात समयसार में "शुभाशुभौ मोक्षबंधमार्गौ" इन शब्दों द्वारा कही गई है जिसका कथन प्रकरण नं० ९ में किया जा चुका है।

सम्यग्दृष्टि को भी पुण्य इष्ट है

सम्यग्दृष्टि भी रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए बुद्धिपूर्वक पुण्योपार्जन करता है। इसको दृष्टांत सहित सिद्ध किया जाता है। दृष्टांत इस प्रकार है—

मनुष्य मुनिदीक्षा के समय सर्व-उपधि के त्याग की प्रतिज्ञा करता है, किन्तु संयम के साधन-भूत शरीर रूपी उपधि का वह त्याग नहीं कर सकता इसलिए संयम के साधनभूत शरीर की स्थिति के लिए मुनि को आहार आदि ग्रहण करने का निषेध नहीं है तथापि शरीर और विषय कषायको पुष्ट करनेके लिए आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है। इस सम्बन्ध में आर्ष वाक्य निम्न प्रकार है—

"मोक्षसुखाभिलाषिणां निश्चयेन देहादिसर्वसंगपरित्याग एवोचितः। प्रवचनसार गा० २२४ टीका

अर्थात्—मोक्ष के इच्छुक मुनियों को शरीर आदि सर्व परिग्रह का त्याग करना उचित है।

"यो हि नामाप्रतिषिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः स खलु निखिलोऽपि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनोपकारकत्वादुपकरणभूत एव न पुनरन्यः। तस्य तु विशेषाः सर्वा-

हार्यवर्जितसहजरूपापेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरंगलिंग-भूताः कायपुद्गलाः । (प्रवचनसार गाथा २२५ टीका)

अर्थात्—जो अनिषिद्ध (जिनका निषेध नहीं है ऐसी) उपधि (परिग्रह) है, वह अपवाद है, वास्तव में वह सभी उपधि मुनि—अवस्था की सहकारीकारण--भूत उपकार करने वाली होने से उपकरण रूप है, वह उपधि पौद्गलिक शरीर है, क्योंकि वह शरीर यथाजातरूप बहिरंग लिंग का कारण है।

एतद्रत्नत्रयीपात्रं नांगत्यंगं विनाऽशनम् ।
पुष्यत्तत्तेन सिद्धयर्थं स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥

॥५।९६॥ (आचारसार)

अर्थ—यह शरीर रत्नत्रय धारण करने का पात्र है और वह विना भोजन के ठहर नहीं सकता अतएव रत्नत्रय को सिद्ध करने के लिए इस शरीर का पालन करना भी आवश्यक है। क्योंकि अपने स्वार्थ से भ्रष्ट होना भी तो मूर्खता है। अर्थात् इस शरीर के द्वारा संयम व तपश्चरण कर मोक्ष प्राप्त करना आवश्यक है, इसलिए इस शरीर को रक्षा करना भी आवश्यक है।

"मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत्र लोके तद्धार्यते मुनि-भिरङ्गबलात्तदन्नात् । (प० न० पं० २१०)

अर्थात्—लोकमें मोक्षके कारणीभूत जिस रत्नत्रय की स्तुति की जाती है वह मुनियों के द्वारा शरीर को शक्ति से धारण किया जाता है। वह शरीर की शक्ति भोजन से प्राप्त होती है।

इस सब का तात्पर्य यह है कि मुनि बुद्धिपूर्वक जो आहार के लिये चर्या करते हैं, वह चर्या यदि संयम और तप की वृद्धि की दृष्टि से शरीर को आहार देने के लिये की जाती है तो अल्प लेप (अल्पकर्म) बन्ध होते हुए भी निषिद्ध नहीं है। और यदि वह चर्या

शरीर को तथा इन्द्रियों को पोषने के लिये की जाती है तो वह निषिद्ध है। संयम और तप के लिये शरीर पालन करने का निषेध नहीं है, किन्तु विषयभोगों के लिये शरीर पालन करने का निषेध है। शरीर--पालन का सर्वथा निषेध नहीं है। यदि कोई एकान्त-मिथ्यादृष्टि अल्प लेप के भय से अथवा शरीर को कारागृह जानकर शरीर का पालन छोड़ दे तो वह संयम से भ्रष्ट होकर संसार में भ्रमण करेगा। कहा भी है—

"देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहार-विहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्त-संयमामृतभारस्य तपपोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति, तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः।

[प्रवचनसार २३१ टीका]

देश व काल का जानने वाला मुनि भी यदि अल्प कर्मबन्ध के भय से आहार–विहार न करे तो कर्कश आचरण के द्वारा अकाल मरण करके देवगति में उत्पन्न होगा। जिससे उसका समय असमय में छूट जायगा। देव गति में संयम व तप के अभाव में महान कर्म–बन्ध होगा जिसका प्रतिकार होना अशक्य है।

जिस प्रकार शरीर का पालन तप, संयम के लिये भी हो सकता है और विषय-भोगों के लिये भी हो सकता है। उसी प्रकार पुण्योपार्जन व संचय तप व संयम के लिये भी हो सकता है और सांसारिक सुख व विषय–भोगों के लिये भी हो सकता है।

सम्यग्दृष्टि मुनि जिस प्रकार संयम व तप के लिये शरीर का पालन करता है, संयम व तप के लिये पुण्य का उपार्जन व संचय करता है, क्योंकि उस पुण्योदय से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है।

सैद्धान्तिक चक्रवर्ती श्री वीर-नन्दि आचार्य ने कहा भी है—

नैकाक्षैर्विकलाक्षपंचकरणासंज्ञव्रजैर्जातु या,
लब्धा बोधिरगण्यपुण्यवशतः संपूर्णपर्याप्तिभिः ।
भव्यैःसंज्ञिभिराप्तलब्धिविधिभिःकैश्चित्कदाचित्क्वचित्
प्राप्या सा रमतां मदीयहृदये स्वर्गापवर्गप्रदा ॥१०,४३

(आचारसार)

रत्नत्रय की प्राप्ति को बोधि कहते हैं। यह बोधि अर्थात् रत्न-त्रय की प्राप्ति एकेन्द्रिय, विकलत्रय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के नहीं होती है। जिन जीवों के महा पुण्य का उदय होता है, पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं, जो संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं, भव्य होते हैं, जिन्हें लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, ऐसे कितने ही जीवों को, किसी काल और किसी क्षेत्र में उस रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। वह रत्नत्रय स्वर्ग व मोक्ष को देनेवाला है। अर्थात् महान पुण्य के बिना रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है।

चूँकि महान पुण्य से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है, इसलिए सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि यह पुण्य मेरे किस प्रकार हो सकता है। श्री जिनसेन आचार्य ने कहा भी है—

उपायविचयं तासां पुण्यनामात्मसात्क्रिया ।
उपायः स कथं मे स्यादिति सङ्कल्पसन्ततिः ॥

॥५३।४१॥ (हरिवंश पुराण)

अर्थ—पुण्यरूप योग-प्रवृत्तियों को अपने अधीन करना उपाय है। वह उपाय अर्थात् पुण्यरूप योग-प्रवृत्तियाँ मेरे किस प्रकार हो सकती हैं, इस प्रकार के संकल्पों की जो सन्तति है, वह उपाय-विचय दूसरा धर्म ध्यान है।

जिस प्रकार मनुष्य-शरीर के बिना संयम व तप नहीं हो सकता

उसी प्रकार महान (सातिशय) पुण्योदय के बिना संयम व तप नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि मुनि जिस प्रकार रत्नत्रय के लिए शरीर का पालन करता है, उसी प्रकार रत्नत्रय के लिए पुण्य-उपार्जन करता है।

आर्ष ग्रन्थों में विषय--भोगों के लिए शरीर-पालन का निषेध है उसी प्रकार विषय-भोगों की इच्छा से पुण्य-उपार्जन का निषेध है किन्तु रत्नत्रय के लिए शरीर--पालन व पुण्यउपार्जन का निषेध नहीं है अपितु उपर्युक्त आर्ष-ग्रन्थों में उसका विधान है। अल्प-लेप के भय से यदि पुण्योपार्जन नहीं किया जायगा तो पुण्याभाव में रत्नत्रय की प्राप्ति न होने से संसार में भ्रमण करना पड़ेगा।

मनुष्यजातौ भगवत्प्रणीत-धर्माभिलाषो मनसश्च शांतिः
निर्वाण-भक्तिश्च दया च दानं प्रकृष्टपुण्यस्य भवन्ति पुंसः
॥८।५६॥ (वरांगचरित)

मनुष्य पर्याय में जन्म धारण करके जिनेन्द्र भगवान के द्वारा निरूपित धर्म की अभिलाषा, मन की शांति, निर्वाण की इच्छा, दान तथा दया के परिणाम महान् पुण्यशाली पुरुष के होते हैं।

चूँकि पुण्योदय से जैन-धर्म में प्रवृत्ति होती है इसीलिए आचार्योंने पुण्योपार्जन की प्रेरणा की है।

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२६॥
(आत्मानुशासन)

श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है—जीव के परिणाम ही पुण्य और पाप के कारण हैं। इसलिए पाप का नाश करते हुए भलेप्रकार पुण्य का संचय करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि को जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा होती है, अतः वह

उपर्युक्त उपदेश अनुसार पुण्य-संचय करता है। सम्यग्दृष्टि पुण्य को सर्वदा हेय नहीं समझता।

(११) प्रवचनसार की अपेक्षा पुण्य–पाप विचार

पंचास्तिकाय गाथा १३२ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने "सुहपरिणामो पुण्णं" इन शब्दों द्वारा यह कहा है कि जीव शुभ परिणाम पुण्य है। अर्थात् जीव के शुभ परिणाम को पुण्य कहा है। उस शुभोपयोग का लक्षण प्रवचनसार में निम्न प्रकार कहा है—

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलता पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ।।२४६

अर्थ—अरहंत आदि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य यह शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण है।

अब श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि शुभोपयोगी श्रमण जीवों को संसार से तार देते हैं।

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोग तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ।।२६०।।
(प्रवचनसार)

अर्थ—अशुभोपयोग से रहित, शुद्धोपयोगी अथवा शुभोपयोगी श्रमण लोगों को [संसार से] तार देते हैं।

इसी बात को प्रवचनसार (रायचन्द्रग्रन्थमाला), पृष्ठ ९० पर निम्न गाथा में कहा है—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ।।

अर्थ—जो मनुष्य अरहन्तदेव को नमस्कार करता है वह मनुष्य अक्षय सुख अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त करता है। अरहन्त देव इन्द्रों द्वारा आराध्य हैं, यतिवरवृषभ हैं, और तीन लोक के गुरु हैं।

अर्थात् शुभोपयोग मोक्ष के लिये कारण है।

शंका—प्रवचनसार गाथा (७७) में तो यह कहा है कि "पुण्य-पाप में भेद नहीं है, जो ऐसा नहीं मानता वह मोह से आच्छादित होता हुआ भयानक अपार संसार में भ्रमण करता है।" फिर पुण्य मोक्ष के लिये किस प्रकार कारण हो सकता है? गाथा ७७ निम्न प्रकार है—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोपसछण्णो ।।७७।।

समाधान—प्रवचनसार गाथा ७७ में कथन शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से है। शुद्ध निश्चयनय का विषय पुण्य-पाप से रहित परमात्म जीव द्रव्य है। किन्तु अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा भेद है। इस गाथा की टीका में कहा भी है—

"द्रव्य-पुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदः, भावपुण्यपाप-योस्तत्फलभूतसुखदुःखयोश्चाशुद्धनिश्चयेन भेदः। शुद्ध-निश्चयेन तु शुद्धात्मनो भिन्नत्वाद्भेदो नास्ति।"

अर्थ—व्यवहारनय से द्रव्य पुण्य-पाप में भेद है। अशुद्ध निश्चयनय से भाव पुण्य-पाप में भेद है और उनके फल सुख-दुख में भी भेद है। शुद्ध—आत्मा से पुण्य और पाप दोनों ही भिन्न हैं इसलिये शुद्ध-निश्चय नय से पुण्य और पाप इन दोनों में भेद नहीं है।

इस कथन से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि पुण्य और पाप में भेद भी है और अभेद भी है सर्वथा समान नहीं हैं। यद्यपि पुण्य शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है, तथापि शुद्धात्म-प्राप्ति में सहकारी अवश्य है। क्योंकि जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है।

(१२) अष्टपाहुडकी अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

शंका—भाव, प्राभृत गाथा ८१ व ८२ में बतलाया गया है कि जिससे सांसारिक सुख की प्राप्ति होती है, वह पुण्य है और जिससे कर्म क्षय होकर मोक्ष मिलता है, वह धर्म है। इससे यह स्पष्ट है कि पुण्य या शुभोपयोग मोक्ष का कारण नहीं है। (देखो जैन संदेश २४-११-६६)

समाधान—भावप्राभृत गाथा ८१ निम्न प्रकार है—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८१॥

(भावपाहुड)

इस गाथा में आत्मा के मोह व मोक्ष से रहित परिणामों को धर्म की संज्ञा दी है। प्रवचनसार गाथा ७वीं में भी यही कहा है कि चरित्र वास्तव में धर्म है, जो दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का अत्यन्त निर्विकार परिणाम है। आत्मा के यह मोह क्षोभ से रहित अत्यन्त निर्विकार परिणाम क्षीणमोह–बारहवें गुणस्थान में होता है, क्योंकि समस्त मोहनीय कर्म का क्षय (नाश) बारहवें गुणस्थान में होता है अर्थात् बारहवें गुणस्थान में क्षायिक चारित्र रूप धर्म होता है उस बारहवें गुणस्थान से अधस्तन गुणस्थानों में रत्नत्रय है उसको भावपाहुड की गाथा ८ में पुण्य की संज्ञा दी है। क्योंकि सूक्ष्म साम्पराय दसवें गुणस्थान तक रत्नत्रय से पुण्य बन्ध होता है यद्यपि दसवें गुणत्रय से पुण्य बन्ध होता है। तथापि वह रत्नत्रय इस जीव को संसार दुखों से निकालकर उत्तम में धरता है, इस अपेक्षा से वह भी धर्म है। इसलिए श्री पद्मनन्दि आचार्य ने धर्म की निम्न प्रकार व्याख्या की है—

धर्मो जीवदया गृहस्थयमिनोर्भेदाद्द्विधा च त्रयं।
रत्नानि परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः॥

मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वागङ्गसंगोज्झिता ।
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ।।१।७ ।।

(पद्मनन्दि पंचविंशति)

अर्थ—प्राणियोंके ऊपर दया भाव रखना, यह धर्म का स्वरूप है। वह धर्म गृहस्थ (श्रावक) और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। वही धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप उत्कृष्ट रत्नत्रय के भेदसे तीन प्रकार का है। वही धर्म उत्तम क्षमादि के भेद से दस प्रकार का है। मोहनीय कर्म के निमित्त से उत्पन्न होने वाले मानसिक विकल्पसमूह (मोह-मोक्ष) से रहित तथा वचन एवं शरीर के संसर्ग से भी रहित जो शुद्ध आनन्द रूप आत्मा की परिणति होती है, वह धर्म नाम से कही जाती है।

भाव पाहुड गाथा ८१ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने दसवें गुणस्थान तक के रत्नत्रय रूपी धर्म को पुण्य संज्ञा दी है, क्योंकि इस से सातिशय पुण्य का बन्ध होता है और वह तीर्थंकर प्रकृति आदि-रूप पुण्य-बन्ध मोक्ष के लिये सहकारी होता है। गाथा ८१ की टीका में श्री श्रुतसागर आचार्य ने कहा है—

"सर्वज्ञवीतराग-पूजालक्षणं तीर्थंकरनामगोत्र-बंध-कारणं विशिष्टं निर्निदान-पुण्यं पारम्पर्येण मोक्ष-कारणं गृहस्थानां श्रीमद्भिर्भणितं ।"

अर्थ—आचार्यों ने गृहस्थियों के ऐसा विशिष्ट पुण्य बतलाया है जो तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध का कारण है और परम्परा से मोक्ष का कारण है। उस विशिष्ट पुण्य का लक्षण सर्वज्ञ वीतराग की पूजा है।

इस प्रकार भावपाहुड गाथा ८१ से यह सिद्ध होता है कि पुण्य मोक्ष का कारण है। भाव-पाहुड की गाथा ८२ निम्न प्रकार है—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि,
पुण्णं भोयनिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयनिमित्तं ॥८२॥
(भावपाहुड)

इस की संस्कृत टीका निम्न प्रकार है—

"श्रद्धाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति। प्रत्येत्ति च मोक्षहेतुभूतत्वेन यथावत्तत्प्रतिपद्यते। रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रुचिं करोति। मोक्षर्थित्वात्तत्साधनतया स्पृशति अवगाहयति। एतत्पूजादिलक्षणं पुण्यं मोक्षार्थितया क्रियमाणं साक्षाद् भोगकारणं स्वर्गस्त्रीणामालिंगनादिकारणं तृतीयादिभवे मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिगेन। न भवति स्फुटं निश्चयेन साक्षात्तद्भवे गृहस्थलिंगेन कर्मक्षयनिमित्तं–तद्भवे केवलज्ञानपूर्वकमोक्षनिमित्तं पुण्यं न भवतीति ज्ञातव्यं।"

अर्थात्—गृहस्थ श्रद्धान करता है, रुचि करता है, प्रतीति करता है, स्पर्श करता है, कि पुण्य मोक्ष का हेतु है, कारण है, साधन है। मोक्षार्थी द्वारा किया गया पूजा आदि रूप पुण्य साक्षात स्वर्गादि के भोगका कारण है। तीसरे भव में निर्ग्रन्थ लिंग द्वारा मोक्ष का कारण है। यह निश्चित है कि गृहस्थ के उसी भवसे वह पुण्य कर्मक्षयका निमित्त नहीं होता है। अर्थात् उसी गृहस्थ भवसे केवलज्ञान पूर्वक मोक्ष नहीं होता है, ऐसा जानना चाहिये। मोक्ष का साक्षात् कारण मुनिलिंग-निर्ग्रन्थ लिंग है, गृहस्थलिंग साक्षात् कारण नहीं है।

इस गाथा में तो यह बतलाया है कि गृहस्थ को जिनपूजादि रूप पुण्य परम्परासे मोक्ष का कारण है, क्योंकि गृहस्थलिंगसे मोक्ष

नहीं हो सकती, इसलिये वह पुण्य साक्षात् मोक्षको कारण नहीं है। इसी भाव पाहुड की गाथा १५१ में श्रीकुन्दकुन्द आचार्यने कहा है कि जिनेन्द्र की शक्ति रूपी पुण्य से संसारके मूल का नाश होता है। वह गाथा इस प्रकार है—

जिणवरचरणांबुजरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ।।१५१।।

अर्थ—जो भव्य पुरुष उत्तम भक्ति और अनुराग से जिन भगवान के चरणकमलों को नमस्कार करते हैं, वे उत्तम भावरूप हथियार से संसार रूप बेल को जड़ से उखाड़ देते हैं।

पूयाफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ।।१४।।
(रयणसार)

अर्थ—जो शुद्ध मन से पूजा करता है तथा दान देता है वह जिन पूजा रूपी पुण्य के फल से तीनलोक से तथा देवों से पूजा जाता है अर्थात् अरहंत देव होता है और दान रूप पुण्य से तीन लोक का सार सुख अर्थात् मोक्ष सुख भोगता है।

ऐसा श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा में कहा है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य का इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी भाव-पाहुड गाथा ८२ की संस्कृत टीका के अनुसार अर्थ न करके जिन-पूजा दान आदि पुण्य (धर्म) कार्यों से श्रावकों को विमुख करना उचित नहीं है।

(१३) परमात्म प्रकाश की अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

शंका—परमात्म-प्रकाश दूसरा अधिकार गाथा ५३-५५ ५७-५८ और ६० में यह बतलाया गया है कि जो पुण्य पाप को समान न जानकर पुण्य से मोक्ष मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। क्या यह कथन ठीक नहीं है?

समाधान—परमात्मप्रकाश दूसरे अधिकार में गाथा ५३ से गाथा ६३ तक निश्चयनय की अपेक्षा पुण्य पाप का कथन है और गाथा ६४-६६ में व्यवहार और निश्चय प्रतिक्रमण का कथन है, कहा भी है—

"अथानन्तर निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्याद्युपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियते।"

अर्थ—आगे निश्चय की अपेक्षा से पुण्य पाप दोनों समान है, इत्यादि कथन करते हैं।

बंधहं मोक्खहं हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ।
सो पर मोहिं करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ २।५३

अर्थ—निज भाव बंध व मोक्ष के कारण हैं जो कोई यह नहीं जानता, ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव मोह से पुण्य और पाप को करता रहता है।

इस गाथा में मात्र यह बतलाया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव बंध व मोक्ष के कारणों को न जानता हुआ, पुण्य-पाप से रहित मोक्ष को न प्राप्त करके पुण्य पाप का बन्ध करता रहता है।

जो ण वि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ।२।५५॥

अर्थ—जो जीव निश्चयनय से पुण्य पाप दोनों को समान नहीं मानता वह जीव मोह से मोहित हुआ बहुत काल तक दुख सहता हुआ संसार में भटकता है।

"पुण्य और पाप दोनों समान हैं" यह कथन वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित मुनि की अपेक्षा से है। इसका विचार श्री ब्रह्मदेव सूरि ने टीका में इस प्रकार किया है—

"अत्राह प्रभाकरभट्टः—तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति। भगवानाह—यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतराग-निर्विकल्पसमाधि लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा संमतमेव। यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्ता गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टा सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ॥५५॥

अर्थ—"पुण्य पाप समान हैं" यह कथन सुनकर प्रभाकर भट्ट बोला—यदि ऐसा ही है, तो जो कितने लोग पुण्य पाप को समान मानते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ? तब श्री योगीन्द्र देव ने कहा यदि गुप्ति से गुप्त शुद्धात्मानुभूति-स्वरूप वीतराग निर्वकल्प-समाधि में ठहरकर पुण्य पाप को समान जानते हैं तो योग्य है। परन्तु जो इस निर्विकल्प समाधि को न पाकर भी पुण्य पाप को समान जानकर गृहस्थी--अवस्था में दान-पूजा आदि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं और मुनि पद में छह आवश्यक कर्मों को छोड़ देते हैं, वे दोनों बातों से भ्रष्ट हैं। वे निंदा योग्य हैं। उन को दोष है, ऐसा जानना।

गाथा ५७ में बतलाते हैं कि निदान बन्ध से उपार्जित पुण्य जीव को राज्यादि विभूति देकर नरकादि दुख उत्पन्न कराते हैं, इसलिये ऐसे पुण्य अच्छे नहीं हैं।

मं पुणु पुण्णइं भल्लाइं णाणिय ताइं भणंति।
जीवहं रज्जइ देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति ।२।५७।

संस्कृत टीका—निदानबन्धोपार्जितपुण्येन भवान्तरे

राज्यादिविभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादिदु:खं लभते। रावणादिवत्। तेन कारणेन पुण्यानि हेयानीति। ये पुनर्निदानरहितपुण्य-सहिता: पुरुषास्ते भवान्तरे राज्यादिभोगे लब्धेऽपि भोगां-स्त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा चोर्ध्वगति-गामिनो भवन्ति बलदेवादिवदिति भावार्थ:।' उर्ध्वगा बलदेवा: स्युर्निर्नि-दाना भवान्तरे' इत्यादि वचनात् ॥५७॥

अर्थ—निदान बन्ध से उपार्जन किये गये पुण्य जीवको दूसरे भवमें राज्य सम्पदा देते है। उस राज्यविभूति को पाकर अज्ञानी जीव विषय भोगों को छोड़ नहीं सकता, उससे नरकादि के दु:ख पाता है, रावण आदि की तरह इसलिये अज्ञानियोंका पुण्य हेय है। जो निदानरहित और पुण्यरहित पुरुष हैं वे दूसरे भव में राज्यादि भोगों को पाते हैं तो भी भोगों को छोड़कर जिन-दीक्षा धारण करके ऊर्ध्व-गति को जाते हैं, बलदेव आदि की तरह। निदान बन्ध नहीं करते हुए महा-मुनि महान् तप करके भवान्तर में स्वर्गलोक जाते हैं, वहाँ से चलकर बलभद्र होते हैं। वे देवों से भी अधिक सुख भोग कर राज्यका त्याग करके मुनि व्रत को धारण करके या तो मोक्ष जाते हैं या बड़ी ऋद्धिके देव होकर फिर मनुष्य होकर मोक्ष जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानियों का पुण्य हेय नहीं है।

गाथा ५८ में कहा है कि निर्मल सम्यक्त्व-धारी जीव को मरण भी सुखकारी है और सम्यक्त्व के बिना पुण्य अच्छा नहीं है।

वर णियदंसणअहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि।
मा णियदंसणविम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि २-५८

"संस्कृत टीका—सम्यक्त्वरहिता जीवा: पुण्यसहिता

अपि पापजीवा भण्यन्ते। सम्यक्त्वसहिताः पुनः पूर्वभवा-न्तरोपार्जितपापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते येन कारणेन, तेन सम्यक्त्वसहितानां मरणमपि भद्रम्। सम्यक्त्व-रहितानां च पुण्यमपि भद्रं न भवति। कस्मात्? तेन निदानबद्धपुण्येन भवान्तरे भोगान् लब्ध्वा पश्चान्न-रकादिकं गच्छन्तीति भावार्थः ॥५८॥

अर्थ—सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य-सहित हैं तो भी पापी जीव हैं। जो सम्यक्त्वसहित हैं किन्तु पूर्व भवमें उपार्जित पाप कर्म को भोग रहे हैं, वे पुण्य जीव हैं। इसलिये जो सम्यक्त्वसहित हैं उन का मरना भी अच्छा है। क्योंकि मरकर ऊर्ध्व गति में जावेंगे। सम्यक्त्व-रहित का पुण्य भी अच्छा नहीं हैं। क्योंकि वे निदानबन्ध सहित पुण्य से भवान्तर में भोगों को भोग कर नरकादि में जाते हैं।

गाथा ६० में मिथ्यादृष्टियों के पुण्य का निषेध करते हैं—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥ ।६०॥

संस्कृत टीका—इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेद—रत्नत्र-त्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगकांक्षारूपनिदानबन्ध-परिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति। न च पुनः सम्य-क्त्वादिगुणसहितं भरत-सगरपाण्डवादिपुण्य-बन्धवत्। यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति तर्हि ते कथं पुण्यभाजनाः

सन्तो मदाहंकारादि-विकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गता इति भावार्थः ॥६०॥

अर्थ—मदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित मिथ्यादृष्टि जीव देखे-सुने-अनुभव किये गये भोगों की वांछारूप निदान बंध के परिणामों से जो पूर्व भव में पुण्य उपार्जित किया गया था, ऐसा पुण्य मद अहंकार उत्पन्न करता है और बुद्धि का विनाश करता है। जो सम्यक्त्व आदि गुण सहित भरत सगर राम पांडव आदि हुए हैं उन को पुण्य अभिमान उत्पन्न नहीं कर सका यदि पुण्य सब को मद उत्पन्न करता होता तो पुण्य के भाजन पुरुष अर्थात् पुण्यवान् पुरुष मद अहंकार को छोड़कर मोक्ष कैसे जाते। अर्थात् पुण्य सब को मद अहंकार उत्पन्न नहीं करता क्योंकि बहुतसे पुण्यवान् जीव मद अहंकार को त्याग कर मोक्ष जाते हैं।

इन सब गाथाओं का अभिप्राय इस प्रकार है कि किसी अज्ञानी के हाथ में शत्रुघातक शस्त्र आ गया किन्तु वह उस का ठीक प्रयोग करना नहीं जानता; इसलिये शत्रु का घात न कर अपना घात कर-लेता है। यदि वही शस्त्र ज्ञानीके हाथ में आ जाय तो वह उस का उचित प्रयोग कर शत्रु का घात कर सुख से रहता है। इसी प्रकार यदि कर्म क्षय करनेवाला ऐसा उच्चगोत्र उत्तम संहनन आदि पुण्य रूपी शस्त्र अज्ञानी के पास होता है तो वह अज्ञानी कर्म शत्रु का नाश न कर अपनी आत्मा के गुणों का घात कर लेता है। यदि वही पुण्य रूपी शस्त्र ज्ञानी के पास हो तो वह कर्मों का नाश कर मोक्ष-सुख को भोगता है।

गाथा ६२ की टीका में कहा है "देवशास्त्रमुनीनां साक्षात् पुण्य-बन्ध-हेतुभूतानां परपरया मुक्तिकारणभूतानां वा" अर्थात् देव शास्त्र गुरु ये साक्षात् पुण्य-बन्ध के कारण हैं, और परम्परा से मोक्ष के कारण हैं।

शंका—योगसार गाथा ३२ में कहा है कि "जो पुण्य और पाप को छोड़कर आत्मा को जानता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है।" इससे स्पष्ट है कि पाप के समान पुण्य भी त्याज्य है। इसी बात को गाथा ७१ में भी कहा है कि पुण्य को पाप कहने वाले ज्ञानी विरले हैं। गाथा ७२ में कहा है कि जो शुभ और अशुभ दोनों का त्याग कर देते हैं निश्चय से वे ही ज्ञानी होते हैं।

समाधान—पाप बहिरात्मा, पुण्य अन्तरात्मा इन दोनों का त्याग करके अरहंत परमात्मा बनता है। वही अर्थात् अरहंत परमात्मा ही प्रत्यक्ष रूप से साक्षात् आत्मा को जानता है। यह गाथा ३२ का अभिप्राय है। बहिरात्मा को परसमय सब कहते हैं। किन्तु पुण्य अर्थात् अन्तरात्मा को परसमय कहने वाले विरले हैं, यह गाथा ७१ का अभिप्राय है। जो शुभ और अशुभ भावों को त्यागकर क्षीण-मोह हो जाते हैं वे ही निश्चय से ज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं। यह गाथा ७२वीं का अभिप्राय है।

क्या कोई भी व्यक्ति अशुभ भावों (आर्तरौद्रध्यान) को त्याग कर शुभभाव (धर्मध्यान) के द्वारा मोहनीय कर्म के नाश किये बिना अरहंत परमात्मा बन सकता है? धर्मध्यान शुभ भाव है ऐसा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भाव पाहुड गाथा ७६ में कहा है। और इस शुभ भाव रूप धर्मध्यान को श्री उमास्वामी ने 'परे मोक्षहेतू' सूत्र द्वारा मोक्ष का कारण बतलाया है। श्री वीरसेन आचार्य ने धवल पु. १३ पृ. ८१ पर इस शुभभाव रूप धर्मध्यान से मोहनीय का कर्म क्षय होना कहा है। प्रकरण नं० ३ में इसका विशेष विवेचन है।

कार्य-समयसार का उत्पादन होने पर कारण-समयसार का व्यय होता है अर्थात् शुद्धभावरूप अरहंत पद (कार्यसमयसार) के उत्पाद होने पर शुभ रूप अन्तरात्मा (कारण-समयसार) का व्यय हो जाता है।

यदि पुण्य और पाप सर्वथा समान होते तो श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७ के निम्न सूत्रों में जिस प्रकार पाप को दुःख रूप तथा जीव के नाश करने वाला कहा है, उसी प्रकार पुण्य को भी दुःख रूप और नाश करने वाला कहते, इससे सिद्ध है कि पुण्य और पाप में महान् अन्तर भी है।

"हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥
दुःखमेव वा ॥१०॥ [तत्त्वार्थसूत्र अ० ७]

अर्थ—हिंसादिक पाँच पापों से इस लोक और पर-लोक में अपाय (स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओं का विनाश करने-वाली प्रवृत्ति) और अवद्य (गर्ह्य, निन्दा) देखी जाती है, अथवा हिंसा आदि पांच पाप दुःख रूप ही हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि पुण्य स्वर्ग और मोक्ष की प्रयो-जक क्रियाओं का विनाश करने वाला नहीं हैं, अपितु साधन है।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रवचनसार में कहा है—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥२६०॥

अर्थ—जो मुनि अशुभोपयोग (पाप) रहित वर्तते हुए शुद्धोपयुक्त (पुण्य पाप से रहित) अथवा शुभोपयुक्त (पुण्यरहित) होते हैं। वे मुनि भव्यों को संसार से पार कर देते हैं और उनके प्रति भक्तिमान जीव प्रशस्त (पुण्य) को प्राप्त करता है।

(१४) संक्लेश व विशुद्ध परिणाम

मिथ्यादृष्टि जीवों के कभी कषाय का तीव्र उदय होता है और कभी मंदोदय होता है। कषाय के तीव्र उदय में संक्लेश परिणाम होते हैं जिनसे असातादि अप्रशस्त अघाति कर्मों का बन्ध होता है। कषाय के मंद उदय में असंक्लेश अर्थात् विशुद्ध परिणाम होते हैं

जिनसे साता आदि प्रशस्त अघातिया कर्मों का बन्ध होता है। कहा भी है—

"क्रोधमानमायालोभानां तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभः कालुष्यम्। तेषामेव मंदोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम्। तत् कदाचित् विशिष्ट-कषाय—क्षयोपशमे सत्यज्ञानिनो भवति।" पंचास्तिकाय गा० १८० टीका

अर्थ—क्रोध, मान माया और लोभ के तीव्र उदय से चित्त का क्षोभ सो कलुषता है। उन्हीं क्रोध आदि के मंदोदय से चित्त की प्रसन्नता सो अकलुषता (विशुद्धि) है। यह अकलुषता कदाचित् कषाय विशिष्ट क्षयोपशम होने पर अज्ञानी को होती है।

यह कथन तो श्री अमृतचन्द आचार्य की टीका-अनुसार किया गया है। अब श्री जयसेन आचार्य की टीका के अनुसार कथन किया जाता है, जो कि इस प्रकार है—

"तस्यं कालुष्यस्य विपरीतमकालुष्यं भण्यते। तच्चाकालुष्यं पुण्यास्रवकारणभूतं कदाचिदनंतानुबंधि-कषायमंदोदये सत्यज्ञानिनो भवति।"

(पंचास्तिकार गा. १८० श्री जयसेन की टीका)

अर्थ—कालुष्यता की प्रतिपक्षी अकालुष्यता है। वह अकालुष्यता पुण्य (सातावेदनीय आदि) कर्म का कारण है। कदाचित् अनन्तानुबंधी कषाय के मन्दोदय में यह अकालुष्यता अज्ञानी के भी होती है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि कालुष्यता असाता आदि पाप कर्म के आस्रव का कारण है।

इसी बात को श्री वीरसेन आचार्य कहते हैं—

"को संकिलेसो णाम ? असादबंधजोग्गपरिणामो संकिलेसो णाम। का विसोही ? सादबंधजोग्गपरिणामो।" [धवल पु० ६ पृ० १८०]

अर्थ—संक्लेश नाम किसका है ? असाता के बन्धयोग्य परिणाम को संक्लेश कहते हैं। विशुद्धि नाम किस का है ? साता के बन्ध योग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं।

"परियत्तमाणियाणं साद–थिर–सुभ–सुभग-सुस्सर–आदेज्जादीणं सुभपयडीणं बंधकारणभूदकसायट्ठाणाणि विसोहिट्ठाणाणि, असाद–अथिर–असुह–दुभग–दुस्सर अणादेज्जादीणं परियत्तमाणियाणमसुहपयडीण बंयकारणकसायउदयट्ठाणाणि संकिलेसट्ठाणाणि त्ति एसो तेसिं भेदो।"
धवल पु० ११ पृ० २०८

अर्थ—साता, स्थिर, शुभ सुभग, सुस्वर और आदेय आदिक परिवर्तमान शुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषायस्थानों को विशुद्धि स्थान कहते हैं। असाता अस्थिर अशुभ दुर्भग दुःस्वर और अनादेय आदि के परिवर्तमान अशुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारण भूत कषाय के उदय–स्थानों को संक्लेशस्थान कहते हैं। यह संक्लेश और विशुद्धि में अन्तर है।

यद्यपि संक्लेश और विशुद्ध परिणामों को अशुभ और शुभ कहा जा सकता है तथापि ऐसा कथन प्रायः नहीं पाया जाता है। मिथ्यादृष्टि के संक्लेश तथा विशुद्ध परिणामों को अशुभ और सम्यग्दृष्टि के संक्लेश व विशुद्ध परिणामों को शुभ कहा जाता है। बहुधा ऐसा कथन पाया जाता है। (प्रवचनसार गाथा ९ पर श्री जयसेन आचार्य कृत टीका)

मिथ्यादृष्टि जीव को भी विशुद्ध परिणाम हितकारी हैं। क्योंकि विशुद्ध परिणामों के कारण मिथ्यादृष्टि दुर्गति के दुखों से बच जाता है और उसे यथार्थ देव गुरु शास्त्र की रुचि होती है जिस से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

चदुगदिमिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भजविसुद्धसागारो ।
पढमुवसमं स गिण्हदि पंचमवरलद्धिचरिमम्हि ॥२॥
(लब्धसार)

अर्थ—चारोंगतिवाला मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य या तिर्यञ्च गर्भज, क्रोधादि मंद कषायरूप विशुद्ध परिणाम का धारक ज्ञानोपयोगी जीव पंचम लब्धि के अन्तिम समय में प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है।

इस प्रकार भव्य मिथ्यादृष्टि के लिये भी विशुद्धपरिणाम उपादेय हैं, क्योंकि विशुद्ध परिणाम के बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता और संक्लेश परिणाम हेय हैं, क्योंकि संक्लेश परिणाम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में बाधक हैं।

यद्यपि अभव्य जीव को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथापि उसके लिये भी मंद कषाय रूप विशुद्ध परिणाम उपादेय है, क्योंकि उनसे देवादि गति आदि के सुख प्राप्त होते हैं। संक्लेश परिणाम हेय हैं, क्योंकि उनसे नरक गति आदि के दुख प्राप्त होते हैं।

जीव के परिणाम तीन प्रकार हैं—संक्लेश, विशुद्ध, शुद्ध तीव्र कषाय रूप संक्लेश परिणाम हैं, मंद कषायरूप विशुद्ध परिणाम हैं, कषाय-रहित शुद्ध परिणाम हैं। वीतराग विज्ञान रूप जीव-स्वभाव के घातक ज्ञानावरणादि अप्रशस्त कर्मों का संक्लेश परिणाम से तीव्रबन्ध होता है और विशुद्धपरिणामसे मंद बन्ध होता है, यदि विशुद्ध परिणाम प्रबल होते हैं तो पूर्व में जो तीव्र बन्ध हुआ था

उस को भी स्थिति अनुभाग कटकर मन्द हो जाता है तथा अनेक कर्मों का बन्ध रुक जाता है। कषाय-रहित शुद्ध परिणामों से मात्र निर्जरा होती है, बन्ध नहीं होता है। श्री अरहंत आदि का स्तवन आदि रूप परिणाम मन्द कषाय रूप विशुद्ध भाव हैं। ये विशुद्ध परिणाम समस्त कषाय भाव मिटाने के साधन हैं, तातै ये विशुद्ध परिणाम के कारण हैं। सो ऐसे विशुद्ध परिणामों के द्वारा जीव-स्वभावघातक--घातिकर्मों का हीनपना होने से सहज ही वीतराग विज्ञान प्रगट होता है।

इस कहने का सारांश यह है कि जब तक वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित नहीं होता तब तक विशुद्धपरिणाम—शुभभाव उपादेय हैं। वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर बुद्धि-पूर्वक शुद्ध भाव स्वयमेव छूट जाते हैं। संक्लेश परिणाम हेय हैं। वर्तमान पंचमकाल भरत क्षेत्र में वीतराग निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती है। मात्र धर्मध्यान आदि शुभ भाव हो सकते हैं। इसलिये वर्तमान अवस्था में हमारे लिये शुभ भाव विशुद्ध परिमाण ही उपादेय हैं।

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसाराः,
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
साम्राज्यमन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठ-
मार्हन्त्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यम्

२७२ महापुराण सर्ग १६

अर्थ—सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र आदि के उत्तम उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तमवाणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसे पाकर फिर संसार में जन्म नहीं लेना

पड़ता ऐसा अरहंत पद और अन्तरहित समस्त सुख देने वाला श्रेष्ठ निर्वाणपद इन सबकी प्राप्ति पुण्य से होती है।

पुण्यार्जने कुरुत यत्नमतो बुधेन्द्राः ॥२७०॥

अर्थ—इसलिये हे पंडित जनों! पुण्य उपार्जन करने में प्रयत्न करो।

श्री वीरसेन आचार्य के शिष्य श्री जिनसेन आचार्य ने तो महापुराण में पुण्य-उपार्जन का उपदेश दिया है। आज जब कि पाप प्रवृत्ति की बहुलता है, विद्वानों की सन्तान भी धर्म से विमुख है। और नवयुवक विषय कषाय में लिप्त हैं। तब इस उपदेश से "कि पुण्य विष्ठा है, त्याज्य है, अज्ञानी इस पुण्यरूपी विष्ठा को चाहता है" जीवों का अहित ही होगा। जैसा पात्र होता है, वैसा ही उपदेश दिया जाता है। भील को मांस त्याग का, चाण्डाल को हिंसा-त्याग का उपदेश दिया गया, शुद्ध निश्चयनय का उपदेश नहीं दिया गया। आज अभक्ष्य के भक्षण करनेवाले तथा सप्त व्यसन के सेवन करनेवाले को मात्र शुद्ध निश्चयनय का उपदेश दिया जाता है, जिससे वह पाप को पाप नहीं समझता। जिनको अपना हित करना है उनको उपर्युक्त आचार्य-वाक्यों पर श्रद्धा करके पुण्य उपार्जन करना चाहिये किन्तु उस पुण्य से मोक्ष के साधन-भूत सामग्री की इच्छा रखनी चाहिये। इन्द्रिय-सुखों के लिये उस पुण्य को उपार्जन नहीं करना चाहिये, वह तो उस पुण्य से स्वयमेव ही मिलेगा। वृक्ष के नीचे बैठने वाले को छाया स्वयमेव मिलती है उसको याचना करना वृथा है। निदान पुण्य मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं, बाधक ही है।

●